वर्ष 3, अंक 10, अप्रैल -2017
चैत्र, वि. सं. 2074, ₹ 50

मंगल विमर्श

त्रैमासिक

वादे वादे जायते तत्त्वबोध:

अंदर के पृष्ठों पर

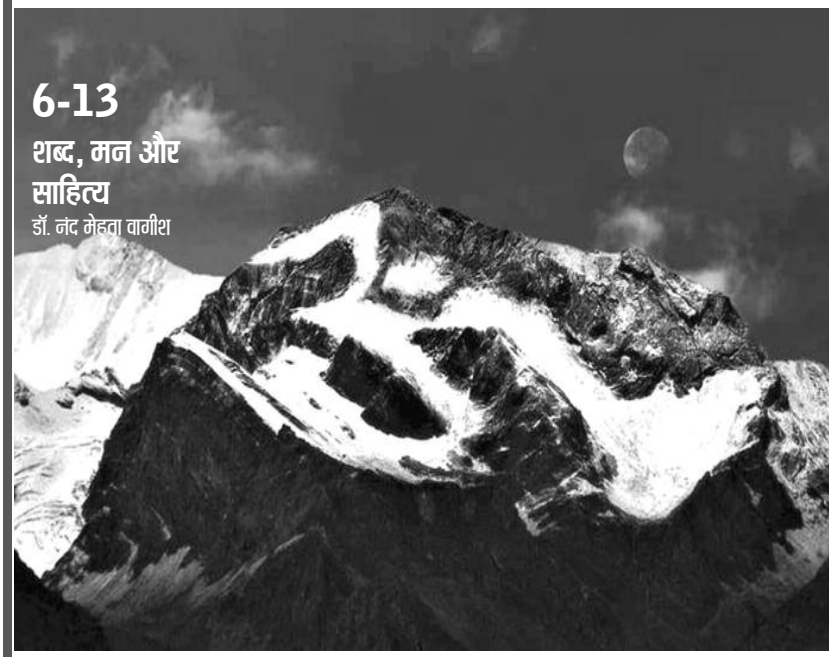

6-13
शब्द, मन और साहित्य
डॉ. नंद मेहता वागीश

14-19
भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में शाश्वत जीवन मूल्य
डॉ. बजरंग लाल गुप्ता

20-31
युगांतर के पर्व में
लीना मेहेंदळे

32-39
भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान
डॉ. हिम्मत सिंह सिन्हा

40-53
हिंदू विद्वेष : निवेशन, निहितार्थ एवं निदान-2
आनंद आदीश

54-57
सुखपूर्वक व्यतीत करें वृद्धावस्था
डॉ. ज्योत्स्ना

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संपादक
सुनील पांडेय

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

प्रकाशक एवं मुद्रक आदर्श गुप्ता द्वारा मंगल सृष्टि, सी-84, अहिंसा विहार, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 के लिए प्रकाशित एवं एक्सेल प्रिंट, सी-36, एफ एफ कॉम्पलेक्स, झंडेवाला, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

RNI
DELHIN/2015/59919
ISSN
2394-9929
ISBN
978-81-930883-8-8

फोन नं.
+91-9811166215
+91-11-27565018
ई-मेल
mangalvimarsh@gmail.com
वेब साइट
www.mangalvimarsh.in

मंगल विमर्श पत्रिका में व्यक्त विचारों के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी हैं। संपादक, मुद्रक व प्रकाशक का उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

सभी विवादों का न्याय क्षेत्र केवल दिल्ली होगा।

अथ

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। यह हमारे लिए गर्व का विषय है। छह लाख से अधिक गाँवों वाले हमारे विस्तृत एवं व्यापक राष्ट्र में इलेक्ट्रोनिक मशीनों के द्वारा मतदान का सुचारु संचालन किया जाता है। जबकि कई विकसित राष्ट्रों में निर्वाचन के लिए अब भी परंपरागत पेटियाँ व पर्चियाँ प्रयुक्त हो रही हैं। हमारे जैसे विकासशील देश के लिए यह साधारण उपलब्धि नहीं। इसके बावजूद हमारे लोकतंत्र का वास्तविक रूप विकृत होता जा रहा, जो अत्यंत शोचनीय है। खेद है कि इसके लिए कोई और नहीं, हम और हमारे नेता ही जिम्मेदार हैं। ह्रास इतना हो चुका है कि आज कोई नेता जेल से चुनाव लड़ रहा है और कोई जेल से छुटे को चुनाव लड़वा रहा है।

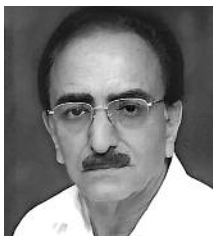

ओमीश परुथी
एसोसिएट प्रोफेसर (से.नि.)
प्रधान संपादक

राजनीति के इस अपराधीकरण पर बहुत कुछ कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त चुनाव दर चुनाव गंभीर हो रही एक अन्य बीमारी की ओर ध्यानाकर्षण जरूरी है। साध्य की शुचिता के साथ-साथ साधन की शुचिता भी आवश्यक है। गांधी जी का यह अमूल्य विचार आज धूल चाट रहा है। वोटरों को लुभाने के लिए आज हमारे नेता तरह-तरह के करतब करने लगे हैं। शराब के द्वारा तो मतदाताओं का एक विशिष्ट वर्ग ही लुभाया जा सकता है, व्यापक प्रभाव क्षेत्र बनाने के लिए नेता नई-नई 'फ्रीबीज' का इस्तेमाल कर रहे हैं। 'फ्रीबीज' (मुफ्त वस्तुओं) की परंपरा का अनुकरण दक्षिण भारत से मुफ्त चावल व धोतियों से हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते रंगीन टी.वी. सेट्स तक पहुँचा। इसी दौर में पंजाब के किसानों को मुफ्त बिजली का लालच देकर चुनाव जीता गया। इसके बाद किसी पार्टी को कोई संकोच न रहा। लोकतंत्र की मर्यादाओं व लोकाचार की लाज की धज्जियाँ उड़ाई जाने लगीं। धृष्ट व दंभी राजनेताओं के द्वारा मतदाताओं को पथभ्रष्ट किया जाने लगा।

आज के चुनावी परिवेश में कोई दल किसानों से ऋण माफी का फार्म भरवा रहा है, तो कोई पार्टी स्मार्ट फोन के लिए नवयुवकों का पंजीकरण कर रही है। इन फ्रीबीज के समक्ष भावी योजनाओं व नीतियों की घोषणाएँ फीकी पड़ गई हैं। मतदाताओं की निष्ठा का मोल लगाना उनका अपमान है। यह रिश्वत देने से कम नहीं। हमारा चुनाव आयोग अपनी कुशल प्रबंधात्मकता के बावजूद इस घिनौने तमाशे को मूक देखने को लाचार है, क्योंकि वास्तव में वह दंतविहीन है। उसके हाथ मजबूत करने का जोखिम लेने को कोई दल तैयार नहीं है। वे उल्टा लोकतंत्र को शिथिल व अपाहिज बनाने पर उतारू हैं क्योंकि इसी से उनके स्वार्थ सधते हैं। यह अत्यंत दयनीय स्थिति है।

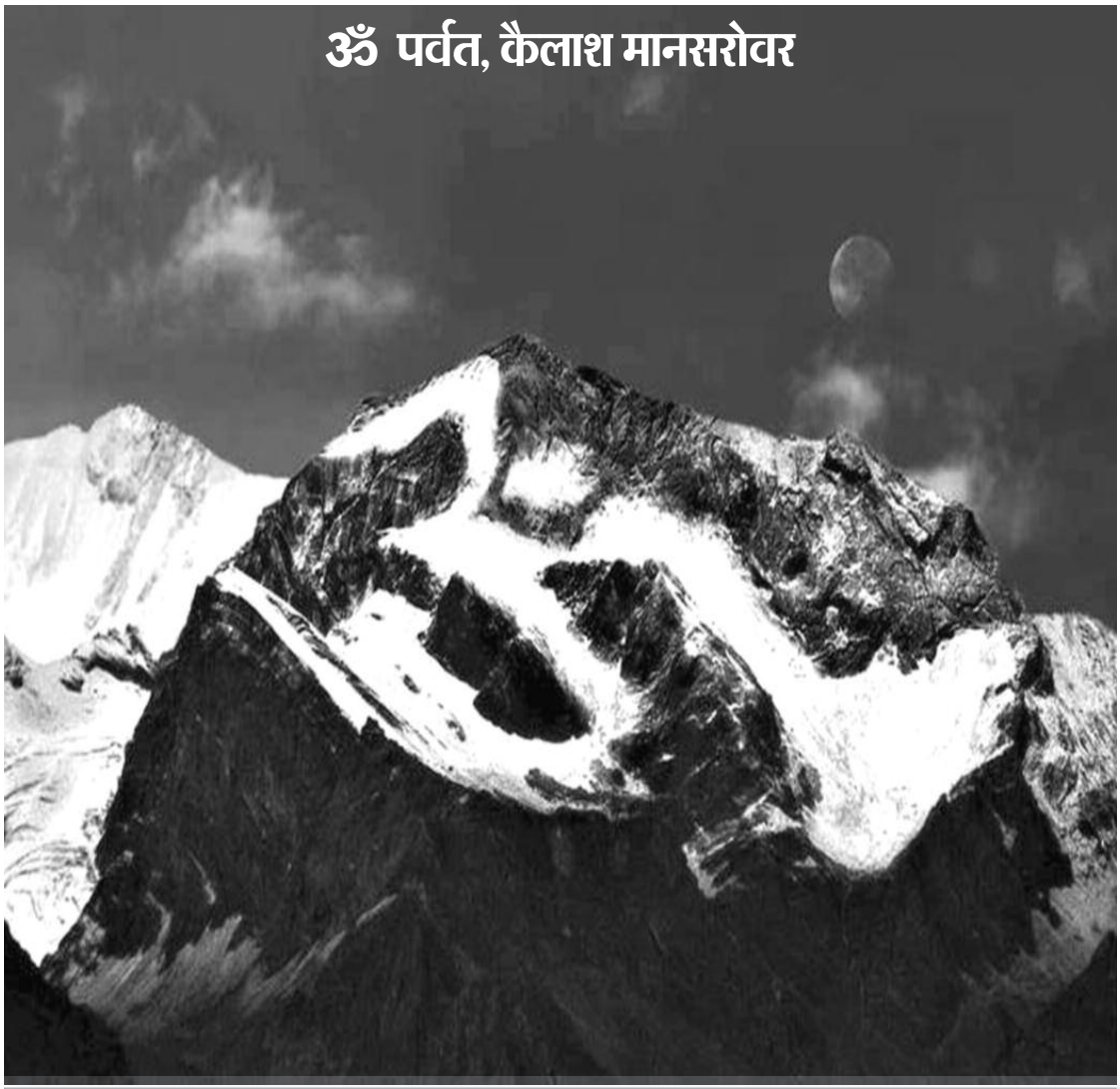

विश्व का समस्त बोध शब्दाश्रित है। मानवीय भाव-विचार, चिंतन-मनन और वस्तु-जगत् के सभी रूप-पदार्थ शब्द से ज्ञेय हैं। सर्वत्र भीतर और बाहर शब्द की सत्ता है। स्पर्श, रूप, रस और गंध-ये सभी शब्दाश्रित होकर व्यक्त होते हैं। जगत् के सभी भाव-अभाव शब्द से ही व्याख्य हैं। शब्द ही सर्वांग योग है। स्फुरित शब्द ध्वनि ही नहीं, ऊर्जा भी है। स्फुरित ऊर्जा ही प्राणिक चेतना है। आचार्यों ने पश्यांती वाक् रूप शब्द को ब्रह्म कहा है। वाक् आकाशीय समष्टि से ध्वनि, नाद और शब्द रूप में विद्यमान है। विद्वद्जनों का मानना है कि यह नाद ओंकार (ॐ) रूप में सृष्टि का आद्य ध्वनन-विस्फोट है और इसी रूप से आकाश में आज भी ध्वननशील है।

शब्द, मन और साहित्य

डॉ. नंद मेहता 'वागीश'

सृष्टि के आधारभूत परमाणुओं की संरचना, गति-आगति, शक्ति और परस्पर-परिणामी संचलन की स्वयंपूर्णता के संबंध में आधुनिक विज्ञान के अद्यतन अनुसंधानों ने सृष्टि-चिंतन की भारतीय अवधारणाओं को कहीं गहरे तक सदृशमानित और समर्थित किया है। भारतीय चिंतन-दृष्टि में पदार्थ और चेतना एक ही सत्ता के दो आयाम हैं। पदार्थ लक्षित है पर चेतना अलक्षित है। इधर आधुनिक विज्ञान ने भी दोनों के दृश्यमान पार्थक्य के परे जाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि सर्वत्र एक ही ऊर्जा की कणिकाएँ स्पंदित हो रही हैं। दोनों की अस्तिमानता के भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले लक्षण तत्त्वतः अभिन्न हैं और यह भी दोनों स्वयं में पूर्ण हैं। इसलिए उपनिषद्कार ऋषि का कथन है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

एवम्गते, तत्त्वतः अभिन्नता के होने पर भी जगत् के गति-बोध के लिए द्वैत जरूरी है। ऐसा न हो तो मानवीय व्यवहार व संवाद के पथ अवरुद्ध हो जाएँ।

संवाद स्वयं में द्वैत सूचक है। संवाद के एक सिरे पर वाक्और दूसरे सिरे पर श्रुति (श्रव्यता) अनिवार्य है। स्थान बदल सकते हैं, किंतु वाक्और श्रुति की परस्परता तो घटित होगी ही। वाक् आकाशीय समष्टि से ध्वनि, नाद और शब्द रूप में विद्यमान है। विद्वद्जनों का मानना है कि यह नाद ओंकार (ॐ) रूप में सृष्टि का आद्य ध्वनन-विस्फोट है और इसी रूप से आकाश में आज भी ध्वननशील है। ओंकार नाद भी है और स्वयं में श्रुति भी। यह संसार वाक् और श्रुति के इसी भेदभाव-संबंधों की क्रियार्थक अभिव्यक्ति है।

संवाद के दोनों सिरों पर उच्चार्य-श्रव्य वाक् को आज विज्ञान ने मनोभाव सहित परिवेश की उपस्थिति में दृश्यमान कर दिखाया है। संवाद-संप्रेषण तथा संचार के सर्वव्यापक शक्तिशाली संसाधनों और उसकी तत्काल-परिणामी गति ने मनुष्य की मनोरचना, चिंतन व्यवहार बुद्धि के आशयों एवं वाक्-क्षेत्रीय प्रयोजनों और आयामों को अभूतपूर्व विस्तार दिया है। कहाँ कभी कठिनलब्ध दूरभाषिक उपकरण और कहाँ वाई-फाई तकनीक की वैश्विकता का संसार। आधुनिक विज्ञान ने एक कदम आगे बढ़कर वाक्-श्रुति को अंकाधीन कर दिया है। यहाँ तक कि श्रुत ध्वनि के आधार पर ही वक्ता का रूपांकन भी संभव कर दिया है। दृष्टि का विषय हो जाने पर भी रूपांकन का यह संप्रेषण-बोध तो वाक् पर ही आश्रित है।

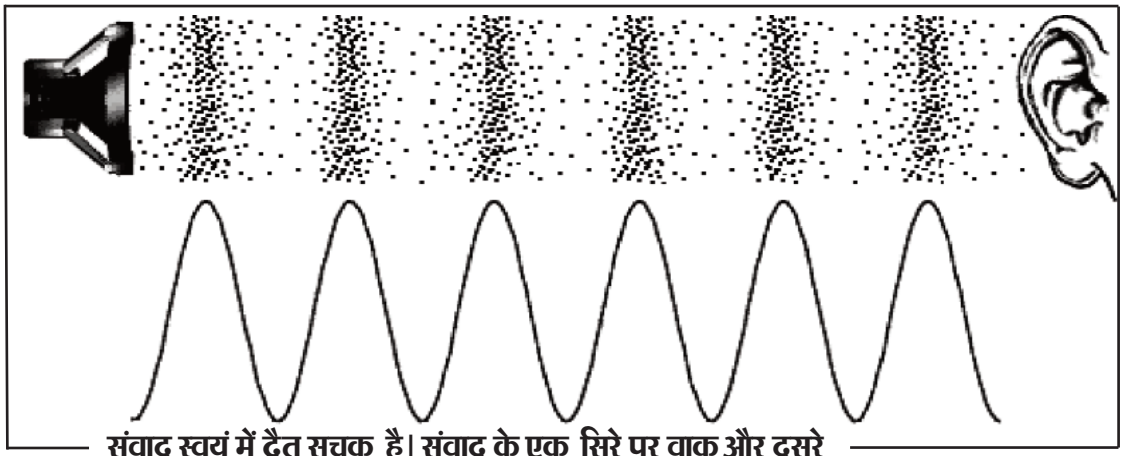

संवाद स्वयं में द्वैत सूचक है। संवाद के एक सिरे पर वाक् और दूसरे सिरे पर श्रुति (श्रव्यता) अनिवार्य है। स्थान बदल सकते हैं, किंतु वाक् और श्रुति की परस्परता तो घटित होगी ही। वाक् को आज विज्ञान ने मनोभाव सहित परिवेश की उपस्थिति में दृश्यमान कर दिखाया है। संवाद-संप्रेषण तथा संचार के सर्वव्यापक शक्तिशाली संसाधनों और उसकी तत्काल-परिणामी गति ने मनुष्य की मनोरचना, चिंतन व्यवहार बुद्धि के आशयों एवं वाक्-क्षेत्रीय प्रयोजनों और आयामों को अभूतपूर्व विस्तार दिया है। कहाँ कभी कठिनलब्ध दूरभाषिक उपकरण और कहाँ वाई-फाई तकनीक की वैश्विकता का संसार। आधुनिक विज्ञान ने एक कदम आगे बढ़कर वाक्-श्रुति को अंकाधीन कर दिया है।

भारत में श्रुति को महत्त्व दिया गया है। कारण, वाक् भी श्रुति में ही समाहित है, पर यूरोप में प्रत्यक्ष वस्तु-बोध के कारण, दृष्टि का ही प्राधान्य है। इसलिए वहाँ दार्शनिक चिंतन की आधारतालिका भी मुख्य रूप से दृष्टि सत्ता-परिसर में ही अंकुरित, विकसित और पल्लवित होती रही है। यूरोपीय दर्शनों के तर्क बौद्धिक व्यापारों से आगे नहीं बढ़ सके हैं। यूरोपीय दर्शन क्षेत्र में जर्मनमूल के महान् दार्शनिक इमानुएल कांट की अत्यंत आदरणीय स्थिति है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (क्रिटीक डेर राइनन फर्नूफ्ट) में पहले से चले आ रहे अनुभवातीत भाव-विश्वासों और तार्किक पद्धति की संभावनाओं पर विस्तृत अध्ययन-मनन प्रस्तुत किया है, किंतु अंतिम निर्णय उन्होंने पाठकों के विवेक पर छोड़ दिया है। हालाँकि फ्रायड (Frued) के मनोविश्लेषणात्मक आधुनिक चिंतन से यूरोपीय बौद्धिक पद्धति को कुछ पूरक संगति मिल गई है, तो भी यह निश्चित है कि विभिन्न सेमिटिक (Semitic) दर्शन, मन-बुद्धि को अतिक्रांत कर सृष्टि एकत्व की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की विश्वव्यापिनी भूमिका में अभी तक पहुँच नहीं सके हैं। वस्तुतः वाक्-श्रुति के अद्वैत दर्शन से अवगत हुए बिना भावन-पथ प्रशस्त नहीं हो पाता।

वाक्-श्रुति के मनः शरीरी क्रियाकलापों का प्रत्यक्षकारी अंग है- दृश्यता। दृश्यता और दृष्टि एक हैं। दृश्यता को दर्शन में रूप कहा गया है। रूप ही पदार्थ है, जो कि दृष्टि का विषय बनता है। नाम-श्रुति एक है, तो दृश्यता-रूप भी एक ही है। वस्तुतः वाक्-श्रुति की प्रतिज्ञा में रूप का अस्तित्व अदृश्य भावेन उपस्थित रहता ही है। रूप का भावन अर्थसिद्ध कल्पना से कर लिया जाता है। यह ठीक

है कि सृष्टि की रूपात्मकता को प्रत्यक्षतया दृष्टि ही धारण करती है, पर उस धारणा की अभिव्यक्ति तो वाक्-श्रुति पर ही निर्भर है न। वाक् और श्रुति की समवेत प्रत्यक्षता शब्द में ही फलित होती है। संवाद का प्रथम-प्राथमिक अधिष्ठान शब्द है और शब्द वर्णाक्षर-संभूत है। शब्द की भाषिक प्रयुक्तता पद है। इसलिए वर्णाक्षर पदशैय्या कहे जा सकते हैं। वर्ण, ध्वनित रूप में अक्षर है और लिपित अक्षर ही वर्ण है। भारतीय भाषा-चिंतन में अक्षर के लिए कहा गया है– नक्षरतीति अक्षरः अर्थात् जिसका अस्तित्व विनष्ट न हो सके, वह अक्षर है। अक्षर ही अमर है। वर्णाक्षरों से निष्पन्न शब्द-सत्ता भी अमर है।

आचार्य भर्तृहरि कृत वाक्यपदीयम् ब्रह्मकांड की प्रथम कारिका से ही 'अक्षर (शब्द) ब्रह्म' को 'अनादिनिधन' कहा गया है। अर्थात् वह अक्षरब्रह्म न तो उत्पन्न होता है और न ही नाश को प्राप्त होता है। यह अक्षर शब्द रूप भी है और अर्थ रूप है। शब्द-अर्थ के इसी द्वैत से जगत् की प्रक्रिया चलती है। शब्दार्थ की सुनिश्चित एवं सांग व्यवस्था से ही भाषिक अभिव्यक्ति का प्रवाह गतिशील रहता है। वेदांग के छह अंगों में से व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त और छंद का प्रत्यक्ष संबंध भाषा से है। ज्योतिष और कल्प नामक शेष अंगों की सत्ता भी शब्दाश्रयी है।

तत्त्वतः संपूर्ण ज्ञान का अधिष्ठान भाषा है और भाषा का मूल अधिष्ठान शब्द है। स्पष्ट है कि ज्ञान, भाषा-अधिष्ठित है तो भाषा शब्द-अधिष्ठित। इस न्याय से संसार का समस्त ज्ञान-मौखिक अथवा लिखित, दृष्ट अथवा श्रुत, अनुभूत अथवा अनअनुभूत और यहाँ तक कि अनुमित और अननुमित भी शब्द-आश्रित ही हैं। इसलिए भाषा का संपूर्ण चैतन्य शब्द में अधिष्टित है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दे न भासते ।।

इस लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जिसका बोध, बिना शब्द के हो। समस्त ज्ञान शब्द में बिंधे हुए से भाषित होते हैं। शब्द से ही इस लोक की सृष्टि हुई है। अपने इस मत को आचार्य भर्तृहरि ने वेदादि शास्त्रों द्वारा समर्थित कोटि में रखते हुए कहा है–

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।।

अर्थात् वेद और शास्त्रों के जानकार महर्षियों ने कहा है यह सकल जगत् शब्द का ही परिणाम है। इतना ही नहीं सूक्ष्म विवेचन करते हुए आचार्यों ने शब्द-रूप वाक्-प्राणिकता को ही सृष्टि तथा लोक-व्यवहार का कारक कहा है–

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तंमात्रामनातिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु।।

इस तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्फोट रूप वाक् ही इस लोक का कारक है और भाषा-परिणामी होकर वाक् ही लोक-व्यवहार का धारक है। यह प्रमाणित है कि वाक् ही प्राणियों में चेतना-शक्ति

वाक् और श्रुति की समवेत प्रत्यक्षता शब्द में ही फलित होती है। संवाद का प्रथम-प्राथमिक अधिष्ठान शब्द है और शब्द वर्णाक्षर-संभूत है। शब्द की भाषिक प्रयुक्तता पद है। इसलिए वर्णाक्षर पदशैय्या कहे जा सकते हैं। वर्ण, ध्वनित रूप में अक्षर है और लिपित अक्षर ही वर्ण है। भारतीय भाषा-चिंतन में अक्षर के लिए कहा गया है–नक्षरतीति अक्षरः अर्थात् जिसका अस्तित्व विनष्ट न हो सके, वह अक्षर है। अक्षर ही अमर है। वर्णाक्षरों से निष्पन्न शब्द-सत्ता भी अमर है।

है। बहिर्जगत् में यह वाक् लोक-व्यवहार का कारक तो है ही, अंतःकरण में भी सुख-दुख का ज्ञान यही वाक् कराती है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जहाँ चैतन्य हो और वाक् न हो। सर्वत्र वाक् का ही कारकात्व फलित होता है, चाहे जाग्रत अवस्था हो या स्वप्नावस्था। समग्रतया यह कहना न्याय संगत है कि शब्द ही वाक् और भाषा ही आधारभूत सत्ता का वाचक है। दर्शन-भाषा में कहा जाए तो यह कि वाक् और श्रुति की शब्द व्यवस्था पर ही भाषा का संपूर्ण अस्तित्व आश्रित है।

वाक्-श्रुति की पूर्वापरता विश्लेषण से परे है। श्रुति है तो वाक् है और वाक् है तो श्रुति है। श्रुति की सत्ता में वाक् समाहित है। बिना श्रुति के वाक् फलित नहीं होती। वाक् श्रुति की यह युति अपनी रूपात्मकता (दृष्टि) सहित जिस वृत्ति में परिणित होती है, उसे स्मृति कहते हैं। इस प्रकार स्मृति का स्वरूप, वाक्-श्रुति और दृष्टि का फलागाम है। स्मृति एक प्रकार से बोधवृत्ति है। यह मनोभूमि की प्रवेश-पात्रता है। इस दृष्टि से इस चैतस बोधवृत्ति को मति भी कहा गया है। लोक-स्वभाव में मन और मति एक हैं। पर मन के व्यास में मति को मन के एक रूप में लक्षित किया गया है। इसीलिए समाहार के रूप में यह कहा जाता है कि श्रुति और दृष्टि से मन बनता है। श्रुति में ही वाक् समाहित है और स्मृति इन तीनों का परिणाम है। सार रूप में यह कहा जाता है जो कुछ हम सुनते हैं और देखते हैं उसी से हमारे मन का निर्माण होता है।

मति मन का वह पूर्व रूप है, जो वाक्-श्रुति-दृष्टि और स्मृति की संश्लिष्ट कारकीय प्रवृत्ति से निर्मित हुआ है। स्वयं में मति विकल्परूपा है। संकल्पबद्ध होकर यह मति जिस रूप को धारण करती है उसे धृति कहा गया है। धृति मन की संकल्पित अवस्था है। वाक्-श्रुति-दृष्टि बीजरूपा है। तो स्मृति मनः-अंकुरण है, मति साधनरूपा है तो धृति साध्य है। इस प्रकार से धृति मनस्क्रियण-समस्तता का फलागाम है। मनन के संगठन में जिस षष्टक-समुच्चय की उत्तरोत्तर परस्परता है, वे हैं–वाक् श्रुति-दृष्टि-स्मृति-मति-धृति। इन सभी मनःशरीरी प्रवृत्तियों की वाच्य-वाचक शक्तियों के धारण करने वाली वाक् है। वाक् ही शब्द रूप में परिणत होकर मन, लोक और व्यवहार को धारण करती है। यही शब्द ही मन का संवादन है। शब्द ही मन की श्रुति और स्मृति है। मति और धृति का मनोरूप भी शब्दाश्रयी है तो दृष्टि या द्रष्टव्या भी शब्द पर आश्रित है। यह शब्द ही मन की कल्पना, उद्भावना और मानसिक क्रिया-भाव-विचार तथा संकल्प विकल्पात्मक आयामों का अर्थ-प्रकाशक है।

अस्तु, सभी आलंबन शब्द-रूप होकर मन का विषय बनते हैं। मनुष्य का मन जगत् के दृश्यों ध्वनियों (शब्द रूप भी) और गतियों का संघात है। संपूर्ण दृश्य और श्रव्य, गत्वर और स्थिर, प्रमेय और अनुमेय, अनुभूत और अनुभूय, तर्क–प्रत्यक्ष और आभासमान् तथा यथार्थ और कल्पित स्थितियों-बोधों का माध्यम शब्द ही तो है। इस प्रकार शब्द ही मन-मनोवृत्ति और परिवेश है। शब्द ही आश्वस्ति और शब्द ही मन का संदेह है। शब्द ही नाम (संज्ञा) है। नाम और रूप एक हैं और सभी नाम-रूप मन के विषय हैं। पूरा नाम पूरी आश्वस्ति देता है। संभवतः इसलिए भारतीय भाषाओं के आद्याक्षर (Initials) के संबोधन की सहज प्रवृत्ति नहीं रही। यह एक प्रकार का गोपन है। अंग्रेजी भाषा के लिपि-प्रभाव से इधर यह प्रवृत्ति भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा रही है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द का मन से और मन का साहित्य से प्रत्यक्ष संबंध है। मन के गठन का कारक तो शब्द है ही, शब्द ही साहित्यिक संरचना, विचारण, विस्तारण, रूपण और भावन का कारक है। मनसा शब्द जुड़ते हैं तो रचना घटित होती है। शब्द विघटित चेतना में उतरते हैं तो संरचना-संबंधन भी ध्वस्त

हो जाते हैं। सामान्यावस्था में शब्द बोधक है तो उसकी बेधकता भी उसके बोध का भाग है। शब्द संधि है तो विग्रह भी शब्द ही है। इसलिए शास्त्रकार सावधान करते हुए कहता है–

'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।'

अर्थात् सम्यक् रूप से किए गए एक शब्द का प्रयोग भी इस लोक और उस लोक में कामधेनु सरीखा सभी मनोरथों को पूरा करता है। राष्ट्रीय संदर्भ में

राष्ट्रीय संदर्भ में सजग शब्दशास्त्री शब्द प्रयोग की सुष्ठता को बार-बार रेखांकित करते आए हैं। शब्द के अंतरंग और बहिरंग की रक्षा करना राष्ट्र के लिए आवश्यक है। यह कार्य शासकीय नीति-निर्देशों का भी विषय होना चाहिए कि शब्द की दृश्य और श्रव्य अभिव्यक्तियों में अराजक और अनर्थक हस्तक्षेप न हो।

सजग शब्दशास्त्री शब्द प्रयोग की सुष्ठता को बार-बार रेखांकित करते आए हैं। शब्द के अंतरंग और बहिरंग की रक्षा करना राष्ट्र के लिए आवश्यक है। यह कार्य शासकीय नीति-निर्देशों का भी विषय होना चाहिए कि शब्द की दृश्य और श्रव्य अभिव्यक्तियों में अराजक व अनर्थक हस्तक्षेप न हो।

यह सांस्कृतिक सत्य निर्भ्रांत रूप में स्वीकार्य किया जाना चाहिए कि शब्दों का एक महासेतुक संसार और संस्कारमंडल होता है, जो अपने ही दिक्कालिक संबंधों से स्वरूपित होता है। वाक् की समवेत औच्चारणिक ध्वनन की विभिन्न झंकृतियाँ इस महासेतु का निर्माण करती हैं, जिस पर चलते हुए पथीन परम्परता के भ्रातृभाव-साहचर्य में सभी राष्ट्रजन अपनी निजता के वैशिष्ट्य को भी बनाए रखते हैं। भाषिक स्तर पर व्युत्पत्ति, उद्गम, संदर्भ, अर्थ प्रसार, ध्वनि-प्रवाह, दिक् संबद्ध इतिहास-दृष्टि, नैतिक चेतना और राष्ट्रीय प्रतीक-संज्ञाओं के वाचक शब्द अपने प्रयोगात्मक संस्कार-मंडल में जाग्रत् जीवित और चेतना-संपन्न बने रहते हैं। ऐतिहासिक परंपरा से ऋद्ध-शब्दों के स्वरूप-संबंधों में से किसी एक अंग का अपहरण कर लेना, शब्द को विषयांतर अथवा विरुद्ध प्रयोगधरा पर ले जाना, क्षमता के विपरीत अर्थ को संकुचित अथवा व्याप्ति-संदर्भ में स्थानांतरित करना, सामान्य अर्थ को विशेष और विशेष अर्थ को सामान्य रूप से प्रयुक्त करना, शब्द से मनचाहा अर्थ कर्षित करना, अंग-अंगी भाव की अनपेक्षित तुलना करना, शब्द को उसके दिक् -संबंधों से विच्छिन्न कर देना तथा सिद्ध लय-गति एवं विराम-तुक से शब्द को विशृंखलित करने जैसे भाषिक षड्यंत्र भारत राष्ट्र के दृश्य और श्रव्य माध्यमों पर अपना कुप्रभाव दिखा रहे हैं। सैन्य दृष्टि से सीमाओं को अतिक्रांत करने की अपेक्षा ये भाषिक हथियार अधिक कारगर एवं प्रभावी हैं तथा भावी पीढ़ियों को मनोवैज्ञानिक रूप से दिग्भ्रांत करने वाले हैं। भारतविद् भाषा-चितकों सहित शीर्ष शासकीय सत्ता संस्थान को यह सत्य हृदयंगम करना होगा कि भाषिक शब्दाधिष्ठान भी राष्ट्रीय धरोहर है और यह धरोहर सर्वांग-रूप से अन्य भौतिक धरोहरों से कहीं अधिक मूल्यवान् और प्राथमिक है। शब्द की यह धरोहर ऐसा आधारभूत प्रतिष्ठान है, जिस पर अन्य धरोहरों की स्थिति व सार्थकता निर्भर है।

जो शब्द वर्णाक्षर-व्यवस्थित है, अर्थ का प्रकाशक है, वही वाक् का सुफल और व्यवहार का कारक है, संवाद का सेतु और मन का आलंबन तथा मन का आश्रय भी है। स्पष्ट है कि शब्द, भाव-विचार और चिंतन-मनन का माध्यम ही नहीं, इन सबकी

स्वरूपसत्ता भी है। यह शब्द ही साहित्य में सर्जनात्मकता का आधार-दर्शन है।

अपने अर्थ व प्रभाव-परिणमन की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द स्वयं में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का उपादान है। शब्द में निहित संरचनात्मक कौशल का आश्रय लेते हुए समर्थ रचनाकार, मनुष्य मात्र के धर्म, अर्थ, काम, नीति, मुक्ति, सौंदर्य-दृष्टि, जागतिक कर्म-कलाप, श्रुति-स्मृति-परंपरा-बोध, विचार-दार्शनिक चिंतन की शिखरताओं, अभिकल्पनाओं और उद्भावनाओं को भाव-सरिता में निमज्जित कर उनके वाच्यर्थ को साहित्यिक सुवास से भर देते हैं। भावसारित ये शब्द ही साहित्यिक सर्जनात्मकता को त्रिपथगामी बनाते हैं। साहित्य के ये शब्द 'भूतभव्यभवन्नाथ' होकर अतीत-वर्तमान-भविष्य की भावधारा में सर्जनात्मकता के निमित्त और उपादान कारण बनते हैं।

अंतस्तात्विक दृष्टि से 'साहित्य' शब्द में ही तीन गुण सन्निहित हैं। एक गुण है 'साथ-साथ' होने से 'सहचरण' का। दूसरा गुण है हितैषिता का और तीसरा गुण है धार्यता का। इस प्रकार नैर्वचनिक दृष्टि से साहित्य-सर्जनों के ये तीनों अभिलक्षण अनिवार्य हैं– साहचर्य, हितकामिता एवं धार्यता। ये तीनों गुण व्याख्यापेक्षी हैं।

शब्द निर्वचन के माध्यम से 'साहित्य' शब्द की अर्थवत्ता और गुण-प्रभाव को विश्लेषित किया जा सकता है। साहित्य शब्द, 'सहित' की भाववाचक संज्ञा है। सहित शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो यह 'सह' में इतच् प्रत्यय लगाने से सहित शब्द बनता है, जिसका अर्थ है 'साथ-साथ' होना। दूसरा यह 'धा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से 'धा' को 'हि' होकर 'हित' शब्द बनता है, जिसके पूर्व 'स'उपसर्ग प्रयोग से 'सहित' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है–हित सहित।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अंतस्तात्विक दृष्टि से 'साहित्य' शब्द में ही तीन गुण सन्निहित हैं। एक गुण है 'साथ-साथ' होने से 'सहचरण' का। दूसरा गुण है हितैषिता का और तीसरा गुण है धार्यता का। इस प्रकार नैर्वचनिक दृष्टि से साहित्य-सर्जनों के ये तीनों अभिलक्षण अनिवार्य हैं–साहचर्य, हितकामिता एवं धार्यता। ये तीनों गुण व्याख्यापेक्षी हैं। लेखन के संदर्भ में साहचर्य से अभिप्राय यह है कि जिस कृति में शब्द का शब्द तथा अपने अर्थ से, अर्थ का निहित भाव-विचार से, वस्तु - तत्त्व का अभिव्यंजना से, यथार्थ का कल्पना से, व्यष्टि का समष्टिभाव से तथा अतीत का भविष्य से रचनात्मक संवर्धन घटित होता है, ऐसी लिपिबद्ध रचना ही साहित्य कहे जाने की अधिकारिणी है। साहित्य का दूसरा अभिलक्षण है मानवीय हितकामिता का साहित्यिक हित-भाव का स्वरूप, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्मक्षेत्रीय है। यहाँ 'सहित' का हित शब्द लक्षणा में व्यवहृत हुआ है। इस हित-भाव में कृतिकार का स्वयं का रचनात्मक मनस्तोष समाहित है। जहाँ तक धार्यता गुण का संबंध है, 'धा' धातु से निष्पन्न 'हित' और उससे व्युत्पन्न (सहित) शब्द में गहरी भाव-व्यंजना निहित है। 'धा' का अर्थ है-धारण करना। 'धारण करने' का संदर्भ यह है कि साहित्य ऐसी कृति है, जिसमें धार्यता गुण सन्निविष्ट है। अभिप्राय यह है 'धार्यता' साहित्य का स्वरूपगत गुण है। यह गुण भावक्षेत्रीय है। इस संदर्भ में यह जान लेना-आवश्यक है कि साहित्य में विचार को भी भावसिद्ध होकर अनुभूति का विषय बनना पड़ता है। कोरा विचार साहित्य के किसी काम का नहीं है।

साहित्य में यह 'धार्यता' दो स्तरों पर चरितार्थ होती है। पहला स्तर है-देशकालबद्ध धार्यता का और दूसरा स्तर है- मानवीय सांवेदनिक मूल्यबद्ध धार्यता का। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सीमित दिक्काल में जो 'मूल्यवान' होता है, वही साहित्य का केंद्रीय स्वर बनता

है। सीमित दिक् काल का भी अपना निजी वैशिष्ट्य होता है। ऐसी कृति में भी मूल्य-चेतना के सूक्ष्मकणों का आंगिक संचरण घटित होता रहता है, तभी वह साहित्य की कोटि में आती है। यह अलग तथ्य है कि दिक्काल के अपने असीम संचरण के कारण कृति में निहित मूल्य चेतना अपने आशय का विस्तार व अपने समय का अतिक्रमण नहीं कर पाती।

साहित्य की धार्यता का दूसरा स्वरुप है-मानवीय मूल्यबद्धता का। साहित्य की ऐसी धार्यता कालातिक्रामी होती है। ऐसी कृति अपनी दिक्कालिकबद्धता से मुक्त होती है। मानवीय सांवेदनिक धार्यता का ऐसा साहित्य समर्थ प्रतीकों, सुंदर रूपकों, उत्प्रेक्षाओं और अभिव्यक्ति के अन्य सार्थक बिंबात्मक आश्रय से उदात्त एवं विराट् उद्देश्यों को समर्पित होता है। ऐसे ही साहित्य के गौरवपूर्ण शब्द अपनी युगीन चेतना के बीच से भी उच्च वैचारिक और भावात्मक अभिव्यक्ति के रुचिर होते हैं। ऐसे ही साहित्य में दिक्कालबद्ध व्याकुलता व्यष्टिबद्ध न होकर समष्टिबद्ध और सृष्टिबद्ध हो जाती है। यही सांवेदनिक मूल्य-चेतना है, जो कृति के भावसिद्ध शब्दों में तरंगायित होती रहती है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साहित्य एक परोक्ष विधा है। साहित्यिक अभिव्यक्ति में सादृश्य-विधान ही वस्तु-रूप को बिंबात्मक दृश्यता प्रदान करता है। इसलिए साहित्य में शब्द अपने अर्थ के साथ व्यतीत नहीं होते, उनके निहितार्थ भविष्य हेतु भी प्रेरक बने रहते हैं। ऐसे साहित्य का रसात्मक भावन पाठकों को अपने लय-लोक से सम्मोहित किए रहता है। साहित्य का यह प्रीतिकर दर्शन कृत के भाववलित शब्दों में व्याप्त रहता है।

सुतराम, वाक्-श्रुति से लेकर मति और धृति पर्यंत, सर्वत्र शब्द का ही लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है। ध्वनि रूप में शब्द ही आकाश का गुण है। तत्त्वतः ऐसी कोई भी चराचर सता नहीं हैं, जो आकाश से परिछिन्न हो। सर्वकाल और सर्वत्र आकाश ही व्याप्त है। आकाशीय गुण-संपन्न शब्द की सत्ता स्वयं प्रकाशित है। विश्व का समस्त बोध शब्दाश्रित है। मानवीय भाव-विचार, चिंतन-मनन और वस्तु-जगत् के सभी रूप-पदार्थ शब्द से ज्ञेय हैं। सर्वत्र भीतर और बाहर शब्द की सत्ता है। स्पर्श, रूप, रस और गंध-ये सभी शब्दाश्रित होकर व्यक्त होते हैं। जगत् के सभी भाव-अभाव शब्द से ही व्याख्य हैं। शब्द ही सर्वांग योग है। स्फुरित शब्द ध्वनि ही नहीं, ऊर्जा भी है। स्फुरित ऊर्जा ही प्राणिक चेतना है।

आचार्यों ने पश्चांती वाक् रूप शब्द को ब्रह्म कहा है। यही शब्द मनोगत अवस्था में मानसिक क्रियाशीलता का विषय बनता है और उच्चरित अवस्था में वैखरी वाक् शब्द कहलाता है। साहित्य की अभिव्यक्ति का मूलाधार वैखरी शब्द वाक् है, जो वर्णाक्षर रूप में लिपित होकर लेखन का आश्रय बनता है। इस प्रकार वर्णाक्षर से लेकर वाक्य-विन्यासन, वस्तु-रूपण, अभिकल्पन, भावन, विचारण, बिंबन, अभिव्यंजन और संप्रेषण पर्यंत साहित्य की समस्त कारकता शब्दागम के रूप में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है। शब्द के रचना-रूप में मध्यमा वाक् की वैचारिकता गति-सत्त्वर रहती है। साहित्य के सर्जनात्मक स्वरूप का विधान करने वाली यह भाव सरिता वैचारिकता, सादृश्यण और बिंबन के माध्यम से मन की कल्पनाशील रमणीयता में परिणत होकर रचना में निहित भाव-सौंदर्य को उद्घाटित करती हुई पाठक-चित को अपनी सर्जनात्मक सुवास से आप्लावित कर देती है ।

लेखक हिंदी के उद्भट भाषा चिंतक व समीक्षक हैं ।

जीवन मूल्य का आधार होती है जीवन दृष्टि और फिर जीवन मूल्यों से बनते हैं जीवनादर्श। इस प्रकार जीवन दृष्टि, जीवन मूल्य और जीवनादर्श अन्योन्याश्रित हैं और एक अर्थ में परस्पर अंतर्भूत भी हैं। शाश्वत जीवन मूल्य वे होते हैं जो देश, काल, परिस्थिति के परे सब स्थितियों में और सदैव प्रासंगिक होते हैं। इनको बार-बार बदला नहीं जाता और बदला भी नहीं जाना चाहिए। ये पुरातन होते हुए भी सदैव नूतन बने रहते हैं, अतः इनमें निरंतरता का प्रवाह अबाध गति से चलता रहता हैं, इसलिए ये समीचीन भी रहते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि देश, काल व परिस्थिति के अनुसार इनकी व्याख्या एवं प्रयोग का विवेक विकसित करना होता है। सकारात्मक जीवनमूल्य से तात्पर्य सदाचार एवं न्यायसंगत जीवन मूल्यों से होता है और वे सदैव समाज के लिए हित संवर्धक होते हैं। सरल शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सकारात्मक जीवन मूल्य का अर्थ है नैतिक मानदंड।

-डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में शाश्वत जीवन मूल्य

जीवन मूल्य का आधार होती है जीवन दृष्टि और फिर जीवन मूल्यों से बनते हैं जीवनादर्श। इस प्रकार जीवन दृष्टि, जीवन मूल्य और जीवनादर्श अन्योन्याश्रित हैं और एक अर्थ में परस्पर अंतर्भूत भी हैं। इस प्रकार कई बार इनके बीच कोई कठोर स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना भी कठिन हो जाता है। अथवा दूसरे शब्दों में ये एक-दूसरे के साथ इतने घुले-मिले होते हैं कि कभी-कभी इनके बीच का अंतर ही समाप्त होकर ये समानार्थक हो जाते हैं। जीवन मूल्य व्यक्ति व समाज के व्यवहार एवं जीवन को निर्देशित एवं नियमित करते हैं। कार्य को दिशा व प्रेरणा देते हैं। इतना ही नहीं जीवनमूल्य व्यक्ति और समाज को पहचान भी देते हैं। कई बार कुछ लोग जीवन मूल्यों को नकारात्मक जीवन मूल्य एवं सकारात्मक जीवन मूल्य के रूप में भी वर्गीकृत करते हैं। नकारात्मक जीवन मूल्य समाज में दुराचार, अनाचार, अनीति, अन्याय एवं अत्याचार का कारण बनते हैं। समाज के दुर्जन एवं दुष्ट व्यक्ति ही ऐसे नकारात्मक जीवन मूल्यों को अपनाते हैं और इस कारण वे समाज के लिए सब प्रकार से हानिप्रद होते हैं। दूसरी ओर सकारात्मक जीवनमूल्य से तात्पर्य सदाचार एवं न्यायसंगत जीवन मूल्यों से होता है और वे सदैव समाज के लिए हित संवर्धक होते हैं। सरल शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सकारात्मक जीवन मूल्य का अर्थ है नैतिक मानदंड। यहाँ हम इन सकारात्मक जीवन मूल्यों की ही चर्चा करेंगे। वास्तव में तो 'जीवन मूल्य' शब्द सकारात्मक जीवन मूल्यों के लिए ही प्रचलित होने से वह इस अर्थ में रूढ़ हो गया है ।

जीवन मूल्यों का वर्गीकरण एक और भी प्रकार से किया जाता है–सामयिक जीवन मूल्य एवं शाश्वत जीवन मूल्य। सामयिक जीवन मूल्यों से तात्पर्य उन जीवन मूल्यों से है जो देश, काल व परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। इसीलिए इन्हें कई बार समकालीन जीवन मूल्य भी कहा जाता है। ये देश या स्थान विशेष, समय विशेष एवं परिस्थिति विशेष में ही उपयोगी एवं प्रासंगिक होते हैं। समय, स्थान व परिस्थिति में परिवर्तन होने पर इनमें भी परिवर्तन होता है, या परिवर्तन होना चाहिए। यदि कोई समाज देश, काल के अनुसार इन जीवन मूल्यों में परिवर्तन नहीं करता और पुराने जीवन मूल्यों से ही चिपका रहता है तो उस समाज का विकास रुक जाता है और उसमें जड़ता आ जाती है। दूसरी और, शाश्वत जीवन मूल्य वे होते हैं जो देश, काल, परिस्थिति के परे सब स्थितियों में और सदैव प्रासंगिक होते हैं। इनको बार-बार बदला नहीं जाता और बदला भी नहीं जाना चाहिए। ये पुरातन होते हुए भी सदैव नूतन बने रहते हैं, अतः इनमें निरंतरता का प्रवाह अबाध गति से चलता रहता हैं, इसलिए ये समीचीन भी रहते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि देश, काल व परिस्थिति के अनुसार इनकी व्याख्या एवं प्रयोग का विवेक विकसित करना होता है। यहाँ हम भारतीय सांस्कृतिक जीवनधारा के ऐसे ही कुछ जीवन मूल्यों की चर्चा करेंगे।

भारतीय जीवन मूल्य परंपरा में खंडित यांत्रिक विश्व दृष्टि के स्थान पर एकात्म सर्वंकश विश्व दृष्टि को स्वीकार किया गया है। अब तो विज्ञान की नवीनतम खोजों ने भी सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्मांड के अलग-अलग दिखने वाले विभिन्न हिस्से एक-

हमारा विश्वास रहा है कि संपूर्ण चराचर जगत में एक ही तत्त्व व्याप्त है–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इसी आधार पर यह कहा गया कि व्यष्टि, समष्टि और सृष्टि ये अलग-अलग और स्वतंत्र इकाइयाँ नहीं हैं, अपितु एक ही तत्त्व भिन्न- भिन्न स्तरों पर अपने को प्रकट किए हुए हैं। अतः इनके बीच एकलयता एवं एकरसता बनी रहनी चाहिए।

दूसरे के साथ गहरे एवं घनिष्ठ रूप से जुड़े एवं गुंथे हुए ही नहीं है अपितु एक-दूसरे के भीतर अंतर्भूत हैं। इसी में से अविभाज्य समग्रता (unbroken wholeness) की परिकल्पना का उदय हुआ है। इसीलिए तो भारतीय मनीषी 'यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे, यत्ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' (अर्थात् जो एक परमाणु में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही एक परमाणु में है) का उद्घोष करते रहे हैं। हमारा विश्वास रहा है कि संपूर्ण चराचर जगत में एक ही तत्त्व व्याप्त है-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इसी आधार पर यह कहा गया कि व्यष्टि, समष्टि और सृष्टि ये अलग-अलग और स्वतंत्र इकाइयाँ नहीं हैं, अपितु एक ही तत्त्व भिन्न- भिन्न स्तरों पर अपने को प्रकट किए हुए है। अतः इनके बीच एकलयता एवं एकरसता बनी रहनी चाहिए।

भारत ने प्रकृति के प्रति मातृत्व व देवत्व भाव-दृष्टि रखने पर जोर दिया है। इसीलिए तो हमने धरती माता, गौमाता, तुलसी माता, गंगा माता, पहाड़ देवता, नदी देवता, नाग देवता आदि संबोधन देकर प्रकृति के प्रति आदर एवं आत्मीयता का भाव रखकर व्यवहार किया है। हम प्रकृति को अपना विरोधी व शत्रु नहीं मानते, अपितु उसके प्रति मित्र भाव रखते हैं। कोई अपनी माँ से कैसे प्रतियोगिता कर सकता है? इसीलिए हम प्रकृति के शोषण का नहीं, अपितु इसके दोहन का विचार करते हैं। इसी को ध्यान में रखकर हमें अपना समूचा जीवन व्यवहार और तकनीक-तकनॉलॉजी का निर्धारण करना चाहिए। हमारा मानना है कि मनुष्य, प्रकृति व पर्यावरण अविभाज्य हैं, अतः मनुष्य को प्रकृति के साथ तालमेल करते हुए रहना चाहिए। प्रकृति के विभिन्न अवयवों-भूमि, जल, वायु, अग्नि, जीव-जंतु, पेड़-पौधों को मिलाकर प्रकृति-चक्र, एक जीवन धारण प्रणाली बनती है, जो इन सबके बीच अन्योन्याश्रित संबंध को प्रकट करती है। इस प्रकृति चक्र का नेटवर्क ही आज की भाषा में जैव विविधता है। हम इस प्रकृति चक्र को नष्ट न करें, तभी हम प्रदूषण की समस्या का समाधान कर पर्यावरण संरक्षण कर पाएँगे।

भारतीय विचार परंपरा में मनुष्य के प्रति देखने का भी अपना एक विशेष दृष्टिकोण रहा

है। हमने मनुष्य को सामाजिक पशु, राजनीतिक पशु, यांत्रिक मानव, जैविकीय इकाई, वैज्ञानिक मानव, आर्थिक मानव आदि के रूप में नहीं देखा है। हमने तो उसे सर्वव्यापक ब्रह्म के स्वरूप में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समुच्चय एकात्म मानव के रूप में माना है। इस विचार परंपरा के अनुसार मनुष्य शरीर व बुद्धि का मिश्रण मात्र ही नहीं है, अपितु उसमें आत्मा की शक्ति भी है, जो शुद्ध, कल्याणकारक एवं दैवीय गुणों से परिपूर्ण है। अतः मनुष्य जहाँ अपने हृदय की दुर्बलताओं, मन की कमजोरियों एवं स्वार्थ वृत्तियों के कारण समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देता है वहीं; यदि उसके अंतस् की सद्-वृत्तियों एवं देवत्व को जगाने एवं बढ़ाने का प्रयास किया जाए तो वह सब समस्याओं का सुंदर-सुखकारक हल प्रस्तुत कर सामाजिक कल्याण का वाहक भी बन सकता है।

भारतीय चिंतन एक समग्र, समन्वित, संतुलित एवं समन्वयात्मक जीवन मूल्य की बात कहता रहा है। हमारा मानना है कि विविधता संसार का सत्य एवं सौंदर्य दोनों

हमारे जीवन मूल्यों में हमने सबसे ज्यादा जोर आचार प्रधान जीवन दृष्टि एवं जीवन व्यवहार पर दिया है। इस दृष्टि से हमारी परंपरा में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, महिला-पुरुष के रिश्तों की मर्यादाओं, सत्य, शील, दया, पवित्रता, दान-परोपकार, सेवा, संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग-समर्पण, संतोष, समदृष्टि आदि सद्‌गुणों को अपनाने पर काफी बल दिया गया है। इन गुणों के कारण ही हमारा चरित्र बनता है।

है। हम विविधता में एकता का दर्शन करते रहे हैं। हमारी मान्यता रही है कि एक का ही विविध रूपों में प्रकटीकरण होता रहा है -'एकोऽहं बहुस्यामः'। इसी में से विविधरूपी एवं बहुमुखी दृष्टिकोण,अविरोध भाव प्राप्त करने की पद्धति, बहुधाभाव की स्वीकृति, बहुधा में एकत्व की पहचान व खोज आदि जन्म लेते हैं। इसी जीवन मूल्य का परिणाम है कि हमारे यहाँ पूजा-पद्धति का स्वातंत्र्य रहा है और हमारा समाज व परंपरा अनेक मत-मतांतरों का अद्‌भुत संगम के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' भारतीय जीवन मूल्यों का अंतर्यामी सूत्र रहा है और इसी में से 'स्याद्‌वाद के सिद्धांत की उत्पति हुई है। अनेक चिंतन धाराओं को मान्य कर उनके भीतर अंतर्निहित समान तत्त्वों को खोज लेना यह सामाजिक एकता-समरसता के लिए आवश्यक है। साथ ही विभिन्नताओं-विविधताओं में से कटुता व संघर्ष उत्पन्न न होने देना ही भारत की सामाजिक दृष्टि रही है। हम वर्ग-संघर्ष में नहीं, बल्कि वर्ग-सहयोग एवं वर्ग-पूरकता के पक्षपाती हैं। हमारी निष्ठा है कि संपूर्ण समाज के विकास के लिए सभी वर्ग आवश्यक एवं उपयोगी होते हैं। हम कभी भी किसी एक वर्ग के हितों की बलि चढ़ाकर किसी दूसरे वर्ग को बढ़ावा देने के पक्षपाती नहीं रहे हैं। इसीलिए हमने सदैव समाज के विभिन्न वर्गों व हितों के बीच सुंदर-सुखद सुमेल एवं समन्वय बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार इस भारतीय जीवन मूल्य के प्रकाश में हमें ऐसी सामाजिक संरचना विकसित करने का प्रयास करते रहना चाहिए जिसमें धन व धर्म, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, संचय व त्याग, अर्जन और वितरण, व्यष्टि और समष्टि, निजी हित एवं सार्वजनिक हित, स्वतंत्रता एवं नियमन आदि अनेक तत्त्वों के बीच उचित समन्वय स्थापित किया जा सके।

जीवन मूल्यों में हमने सबसे ज्यादा जोर आचार प्रधान जीवन दृष्टि एवं जीवन व्यवहार पर दिया है। इस दृष्टि से हमारी परंपरा में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, महिला-पुरुष के रिश्तों की मर्यादाओं, सत्य, शील, दया, पवित्रता, दान-परोपकार, सेवा, संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग-समर्पण, संतोष, समदृष्टि आदि सद्‌गुणों को अपनाने पर काफी बल दिया गया है। इन गुणों के कारण ही हमारा चरित्र बनता है।

आज आवश्यकता है कि हम अपने जीवन मूल्यों को ठीक से समझें और जीवन में अपनाने का प्रयास करें। यह हो सकता है कि आज के सुविधाभोगी वातावरण में इन जीवन मूल्यों को अपनाना कठिन लगे अथवा प्रारंभ में कुछ कष्ट उठाना पड़ें, किंतु यदि हम दृढ़ संकल्प के साथ इन जीवन मूल्यों को अपनाना प्रारंभ कर देंगे तो फिर ये हमें सहज, सरल, स्वाभाविक एवं सुखद लगने लगेंगे। इससे हमें आत्मसंतोष का अनुभव होने लगेगा और फिर हम व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनेक सवालों एवं समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकने कि क्षमता भी प्राप्त कर सकेंगे।

लेखक चिंतक व वरिष्ठ अर्थशास्त्री हैं।

जिस प्रकार समय सतत् गतिमान है– जो कभी रुकता नहीं उसी प्रकार समाज जीवन भी गतिमान है। सृष्टि के प्रारंभ से ही व्यक्ति सत्य के अनुसंधान में लगा हुआ है। सत्य के प्रति इसी जिज्ञासा से जहाँ एक ओर नित्य नए-नए रहस्यों का उद्घाटन होता है वहीं जीवन में नए-नए आयाम भी जुड़ते हैं। भारतीय सनातन परंपरा में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग नाम से जिन चार युगों की संकल्पना की गई है, वे वास्तव में सत्य के अनुसंधान से प्राप्त सिद्धियों तथा ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में नए-नए आयामों के जुड़ने का लेखा-जोखा है। सत्ययुग में समाज की परिकल्पना के उदित होने से लेकर गणित के आँकड़ों, कालगणना, कृषि व्यवस्था के विकास, राज्य की संकल्पना के साथ ही जीवन और मृत्यु तथा आत्मा और चैतन्य, मरणोपरांत क्या जैसे कौतूहल भरे प्रश्नों पर चर्चा से लेकर अब तक हुए आविष्कारों और उससे समाज में जीवन में आए बदलाव के कारण कैसे होता है युग-परिवर्तन; इस गंभीर विषय पर प्रस्तुत है लीना मेहेंदळे का सारगर्भित व गवेषणा पूर्ण लेख।

लीना मेहेंदळे

युगांतर के पर्व में

हम कहते सुनते हैं कि हिंदू धर्म में चार वेद कहे गए हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चार वर्ण भी कहे गए हैं –ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चार आश्रम हैं –ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इसी प्रकार चार युग भी कहे गए हैं– सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग। मेरी मान्यता है ये सभी संकल्पनाएँ एक दूसरे में गुँथी हुई हैं ।

देखा जा सकता है कि सत्य युग में समाज की परिकल्पना तो उदित हो चुकी थी, लेकिन राजा और राज्य की परिकल्पना अभी दूर थी। आग का आविष्कार हो चुका था, उसी प्रकार भाषा का भी। गणित आँकडों का भी ज्ञान था और वर्णमाला तथा लेखन कला का भी। मनुष्य अपने आविष्कारों से नए-नए आयाम छू रहा था। कृषि और पशुपालन दैनंदिन व्यवहार बन चुके थे और कृषि संस्कृति का विस्तार भी हो रहा था। ज्ञान और विज्ञान की साधना हो रही थी।

मनुष्य यद्यपि समाज में रहने लगा था फिर भी गाँव समाज और खेती पर ही पूरी तरह निर्भर नहीं था। अभी भी वन-जंगल उसे प्रिय थे और वनचर बन कर रहना उसे आता था। ज्ञान-साधना के लिए अनगिनत नए आयाम अभी खोजने बाकी थे। जो ज्ञान मिला उसकी सिद्धता, फिर प्रचार, प्रसार और समाज के लिए उपयोगिता-सारे एकसूत्रबद्ध कार्यक्रम थे। तभी वह ज्ञान उपजीविका का साधन बन सकता था।

इसीलिए वनों में रहकर ही ज्ञानसाधना चलती थी। इसके लिए वनों में गुरुकुल थे। बड़े-बड़े ज्ञानी ऋषि बच्चों को गुरुकुल में लाकर रखते थे। उनसे ज्ञान साधना करवाते थे। उनके भोजन-आवास का प्रबंध करते थे, तो उनसे काम भी करवाते थे। जिस ऋषि के आश्रम मे बड़ी संख्या में विद्यार्थी हों उन्हें कुलगुरु कहा जाता। इस संबोधन का प्रयोग महाभारत में भी हुआ है।

दूसरी ओर व्यवसाय-ज्ञान का प्रसार भी हो रहा था। खेती, पशुसंवर्धन, शस्त्रास्त्रों की खोज व

तीव्र गति वाहनों की खोज, खगोल शास्त्र, अंतरिक्ष शास्त्र इत्यादि विषय सत्य युग में ज्ञात थे। इन भौतिक जगत् की विषय वस्तुओं के साथ-साथ जीवन और मृत्यु से संबंधित विचार और चर्चाएँ भी खूब होती थीं और विभिन्न मतों का आदान-प्रदान होता था। जीवन-मृत्यु क्या है? आत्मा और चैतन्य क्या हैं ? मरणोपरांत मनुष्य का क्या होता है यह भी कौतूहल का विषय था। सत्य और अमृतत्व का कहीं न कहीं कोई गहरा रिश्ता है, लेकिन वह क्या रिश्ता है यह चर्चा बार-बार हुई है। मेरा व्यक्तिगत मत है कि इन चर्चाओं को भविष्य के लिए लेखाबद्ध किया गया है।

निर्माण हो रहे थे। आरोग्यलाभ और परिरक्षा के लिए आयुर्वेद का प्रसार रहा था। द्रुतगामी वाहन ढूँढ़े जा रहे थे। शंकरजी के लिए नंदी, दुर्गा के लिए सिंह, विष्णु के लिए गरुड़, यम के लिए भैंसा, इंद्र के लिए ऐरावत हाथी, कार्तिकेय के लिए मयूर, गणेश के लिए मूषक, लक्ष्मी के लिए उल्लू और सूर्य का घोड़ा-ये सारे किस बात का संकेत देते हैं? इसकी कल्पना तो आज की जा सकती है, लेकिन तथ्य समझना मुश्किल ही है। फिर भी वायुवेग से चलने वाला और ऐसी गति के लिए पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर ही ऊपर चलनेवाला इंद्र का रथ था, जिसका सारथ्य मातली किया करता था। उससे भी आगे की शताब्दियों में आकाश मार्ग से विचरण करनेवाला विमान पुष्पक कुबेर के पास था, जिसे बाद में रावण ने छीन लिया। रामायण की कथा देखें तो इसी विमान से राम लंका से अयोध्या आए और फिर विभीषण विमान को वापस लंका ले गया। इससे कई गुना अधिक प्रभावी क्षमता थी नारद के पास-वे मन के वेग से चलते थे। जिस पल जहाँ चाहा, पहुँच गए। इतना ही नहीं,आवश्यक हुआ तो वे औरों को भी अपने साथ ले जा सकते थे। एक ऐसे ही प्रसंग में वे एक राजा तथा उसकी विवाह योग्य कन्या रेवती को ब्रह्मदेव के पास ले गए। जब वापस लौटे तो युग बदल गया था और पृथ्वी पर रेवती के अनुरूप वर भी मिल गया–बलराम।

सारांश में, तीव्र गति वाहनों की खोज, खगोल शास्त्र, अंतरिक्ष शास्त्र इत्यादि विषय उस युग में ज्ञात थे। इन भौतिक जगत् की विषय वस्तुओं के साथ-साथ जीवन और मृत्यु से संबंधित विचार और चर्चाएँ भी खूब होती थीं और विभिन्न मतों का आदान-प्रदान होता था। जीवन-मृत्यु क्या है? आत्मा और चैतन्य क्या हैं ? मरणोपरांत मनुष्य का क्या होता है, यह भी कौतूहल का विषय था। सत्य और अमृतत्व का कहीं न कहीं कोई गहरा रिश्ता है, लेकिन वह क्या रिश्ता है, यह चर्चा बार-बार हुई है। मेरा व्यक्तिगत मत है कि इन चर्चाओं को भविष्य के लिए लेखाबद्ध किया गया है।

'कठोपनिषद्' में यम-नचिकेत-संवाद का कुछ हिस्सा मुझे हर बार विस्मित कर देता है। पिता ने कह दिया– जा मैंने तुझे यम को दान में दिया, तो नचिकेत उठकर यम के घर पर पहुँचा और चूँकि यम कहीं बाहर गए हुए थे, तो नचिकेत तीन दिन भूखा-प्यासा बैठा रहा। यह प्रसंग बताता है कि यम कोई पहुँच से परे व्यक्ति नहीं थे। आगे भी सावित्री की कथा या कुंती द्वारा यम को पाचारण करके उससे युधिष्ठिर जैसा पुत्र प्राप्त करना इसी बात का संकेत देते हैं।

यम लौटा तो यम-पत्नी ने कहा–एक ब्राह्मण

अपने द्वार पर तीन दिन-रात भूखा प्यासा बैठा रहा पहले उसे कुछ देकर शांत करो वरना उसका कोप हुआ तो अपना बड़ा नुकसान होगा। यम नचिकेत से तीन वर माँगने को कहता है। पहले दो वरों से नचिकेत अपने पिता का खोया हुआ प्रेम और पृथ्वी के सुख माँगता है, लेकिन तीसरे वर से वह जानना चाहता है कि मृत्यु के बाद क्या होता है। इस ज्ञान से उसे परावृत्त करने के लिए यम उसे स्वर्गसुख और अमरत्व भी देना चाहता है, लेकिन नचिकेत अड़ जाता है। यदि तुम मुझे अमरत्व और स्वर्ग देने की बात करते हो तो इसका अर्थ हुआ की यह ज्ञान उनसे श्रेष्ठ है। इस संवाद से संकेत मिलता है कि मरणोपरांत का अस्तित्व अमरत्व से कुछ अलग है और श्रेष्ठ भी है। इस पर यम प्रसन्न होकर नचिकेत को बताता है कि यज्ञ की अग्नि कैसे सिद्ध की जाती है और उस यज्ञ से सत्य की प्राप्ति और फिर उस सत्य से मृत्यु के परे होने वाले गूढ़ रहस्यों का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है।

दूसरी कथा है सत्यकाम जाबाली की, जिसमें सत्यकाम के आचरण और सत्यव्रत से प्रसन्न होकर स्वयं अग्नि हंस का रूप धरकर उसके पास आई और उसे चार बार ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। उसका वर्णन यों है- 'सुन आज मैं तुम्हें सत्य का प्रथम पाद बताता हूँ'। फिर एक-एक करके सत्य के द्वितीय पाद, तृतीय पाद और चतुर्थ पाद बताए। यहाँ भी सत्य को ही ब्रह्मज्ञान बताया है ।

इसी प्रकार त्रिलोक के पार अंतरिक्ष में जो सात लोक होने की बात की गई है उसमें सबसे श्रेष्ठ और सबसे तेजोमय लोक का नाम सत्यलोक ही है। 'ईशावास्योपनिषद्' में इसी ज्ञान के लिए विद्या और पृथ्वीतल के भौतिक ज्ञानों के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग करते हुए दोनों को एक-सा महत्त्वपूर्ण बताया है- -'जानकार व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को पूरी तरह समझ लेता है, फिर अविद्या की सहायता से मृत्यु को तरकर-उससे पार होकर, अगला प्रवास आरंभ करता है और उस रास्ते चलते हुए परा विद्या की सहायता से अमृतत्व का प्राशन करता है'। इसी से 'ईशावास्य' में प्रार्थना है –'सत्यधर्माय दृष्टये' और 'माण्डूक्योपनिषद्' की प्रार्थना है–'सत्यमेव जयते नानृतम्'

तो ऐसे इसीलिए रेवती की कथा में वर्णन है कि जब ब्रह्मलोक का एक दिन पूरा होता है तो उतने समय में पृथ्वी पर सहस्रों वर्ष निकल जाते हैं। उनका भी गणित दीर्घतमस् ऋषि के कुछ सूक्तों में मिलता है।

वर्णन है कि विविध देवताओं और असुरों ने कई-कई सौ वर्ष तपश्चर्या की। पार्वती ने शंकर को पाने के लिए एक सहस्र वर्ष तपस्या की। अगर ये सारे वर्णन सुसंगत हों तो इनका संबंध निश्चित ही अंतरिक्ष के इन अलग-अलग लोकों से होगा।

काल गणना का एक अति विस्तृत आयाम हमारे ऋषि मुनियों ने दिया है। उनकी गणना मानें तो ब्रह्मदेव की आयु सौ वर्ष की है, लेकिन ब्रह्मा का एक दिन पृथ्वी लोक के एक सहस्र महायुगों जितना बड़ा होता है। उतनी ही बड़ी ब्रह्मदेव की रात्रि भी होती है। एक महायुग में सत्ययुग के 1728 हजार वर्ष, त्रेता के 1296 हजार वर्ष, द्वापर के 864 हजार वर्ष और कलि के 432 हजार वर्ष इस प्रकार कुल 4320 हजार वर्ष होते हैं। इस गणित से ब्रह्मदेव की आयु के 50 वर्ष बीत चुके हैं अर्थात् पृथ्वी की आयु भी 8000 करोड़ वर्ष हो चुकी है।

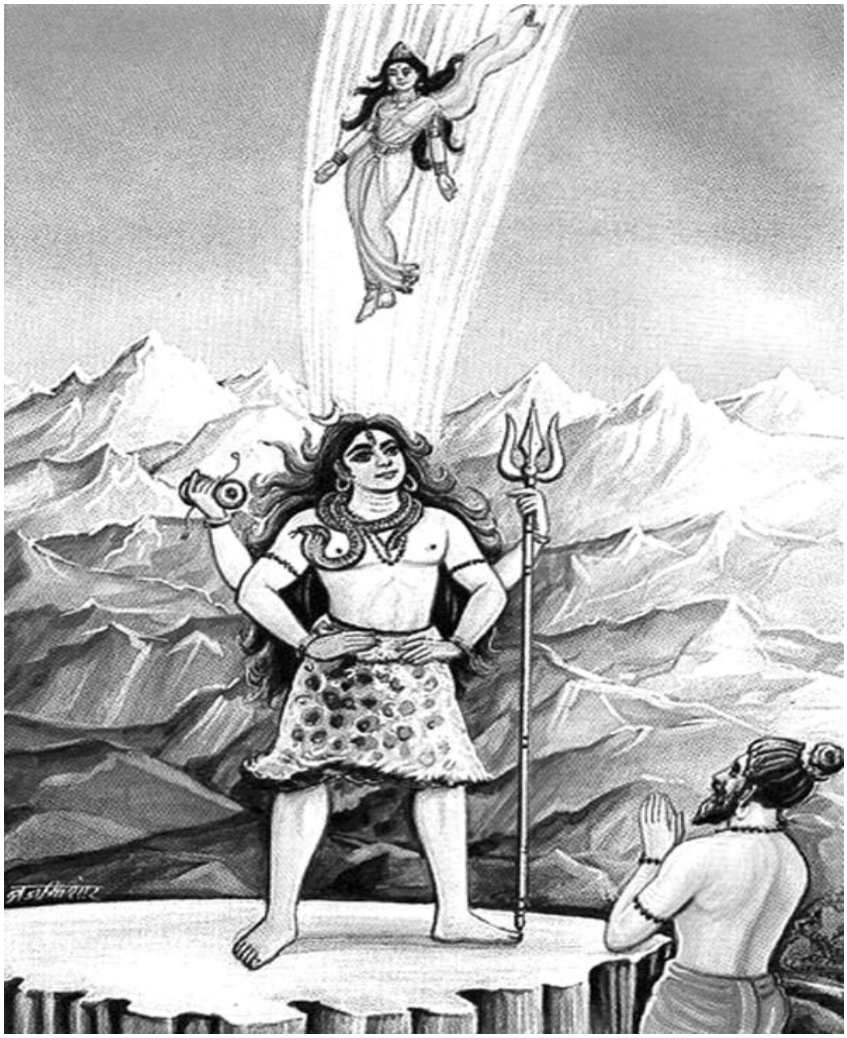

सत्य युग में ज्ञान के नए आयामों की खोज, विस्तार और उससे समाजोपयोगी पद्धतियाँ विकसित करना ही प्रमुख ध्येय था। इसके बाद आए त्रेतायुग में राजा और राज्य की परिकल्पना का उदय हुआ। ज्ञान का विस्तार हो ही रहा था। अब उसमें नगर रचना, वास्तुशास्त्र, भवन निर्माण, शिल्प जैसे व्यावहारिकता में उपयोगी शास्त्र जुड़ने लगे। ज्ञान से सृजन और उससे संपत्ति का रक्षण

सत्य युग में ज्ञान के नए आयामों की खोज, विस्तार और उससे समाजोपयोगी पद्धतियाँ विकसित करना ही प्रमुख ध्येय था। इसके बाद आए त्रेतायुग में राजा और राज्य की परिकल्पना का उदय हुआ। ज्ञान का विस्तार हो ही रहा था। अब उसमें नगर रचना, वास्तुशास्त्र, भवन निर्माण, शिल्प जैसे व्यावहारिकता में उपयोगी शास्त्र जुड़ने लगे। ज्ञान से सृजन और उससे संपत्ति का रक्षण महत्त्वपूर्ण हुआ। तब शस्त्र निर्माण का महत्त्व बढ़ गया। इसी काल में धनुर्वेद का उदय हुआ। आग्नेयास्त्र, पर्जन्यास्त्र, वज्र, सुदर्शन चक्र, ब्रह्मास्त्र, महेंद्रास्त्र जैसे शक्तिशाली अस्त्र और शस्त्रों का निर्माण हुआ।

महत्त्वपूर्ण हुआ। तब शस्त्र निर्माण का महत्त्व बढ़ गया। इसी काल में धनुर्वेद का उदय हुआ। आग्नेयास्त्र, पर्जन्यास्त्र, वज्र, सुदर्शन चक्र, ब्रह्मास्त्र, महेंद्रास्त्र जैसे शक्तिशाली अस्त्र और शस्त्रों का निर्माण हुआ। समाज की रक्षा करने के लिए और समाज व्यवस्था के लिए राजे-रजवाड़ों की प्रथा चल पड़ी। उन्हें सेना रखने की जरूरत पड़ी। सेना का खर्चा चलाने के लिए कर वसूलने की प्रथा भी चली। खेती योग्य जमीन पर स्वामित्व की प्रथा भी चल पड़ी। उत्पादन पर भी कर लगा। यह सब कार्य संभालने का दायित्व क्षत्रियों के कंधों पर पड़ा।

ज्ञान साधना के लिए ब्राह्मणों का मान-सम्मान और आदर कायम रहा, लेकिन नेतृत्व अब क्षत्रियों के पास आ गया। महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर ब्राह्मणों की राय ली जाती थी। ब्रह्मदंड का मान अब भी राजदंड से अधिक था। लेकिन ब्रह्मदंड और राजगुरु दोनों का काम किसी निमित्त ही होता था। रोजमर्रा की व्यवस्था के लिए राजा ही प्रमाण था। एक विश्वास फैल गया कि राजा के रूप में स्वयं विष्णु विराजते हैं ।

संपत्ति के निर्माण के लिए कई प्रकार के तंत्रज्ञान और उससे जुडे व्यवसायों की आवश्यकता होती है। भवन निर्माण के लिए धातुशास्त्र का अध्ययन चाहिए, लेकिन साथ में कुशल लुहार, बढ़ई चाहिएँ। इसी तरह अन्य कई शास्त्रों की पढ़ाई के साथ कुशल बुनकर, रंगरेज, ग्वाला, जुलाहा, गड़ेरिया, चर्मकार, शिल्पकार इत्यादि भी चाहिएँ। आयुर्वेद में भी स्वस्थ वृत्त में वर्णित यम-नियम, संयम, उचित आहार इत्यादि सिद्धांत पीछे छूट गए और दवाइयाँ बनाने का महत्त्व बढ़ गया क्योंकि युद्ध में घायल हुए लोगों के शीघ्र स्वास्थ्य लाभ के लिए वह अधिक जरूरी था। पशुवैद्यक इतना प्रगत हुआ कि सहदेव, नकुल और भीम स्वयं राजपुत्र होते हुए भी क्रमशः गाय, घोड़े और हाथियों की अच्छी प्रजातियों के संवर्धन में निष्णात थे। रथों का निर्माण, सारथ्य, नौका निर्माण, रास्ते, तालाब और नहर बनाना आदि शास्त्र भी प्रगत थे। कथा के अनुसार भगीरथ ने तो गंगा को ही स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार दिया। व्यवहार के दृष्टिकोण से भी जिस तरह से पश्चिम वाहिनी गंगा का विशाल प्रवाह मुड़ा गंगा पूर्व वाहिनी हो गई। उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि धरुण बनाने का शास्त्र भी प्रगत रहा होगा। एक अन्य कथानुसार राम ने तो समुद्र पर ही पुल बँधवा लिया।

ईंट, सिक्के, आईने, धातु शिल्प इत्यादि नए व्यवसाय उदय होने लगे। सत्ययुग में कृषि-शास्त्र तो विस्तृत हो चुका था, द्वापर में आते-आते हस्तकला और हस्त-उद्योगों की संख्या ऐसी बढ़ी कि वर्णाश्रम व्यवस्था का उदय हुआ। जो ज्ञान साधन और ज्ञान प्रचार करे सो ब्राह्मण, राज्य और युद्ध करे सो क्षत्रिय, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य करे सो वैश्य और हस्त-उद्योग, सेवा तथा देखभाल करे सो शूद्र; इस प्रकार वर्ण व्यवस्था बनी। लेकिन यह वर्णभेद जन्म से नहीं,

• सत्य युग में समाज की परिकल्पना तो उदित हो चुकी थी, लेकिन राजा और राज्य की परिकल्पना अभी दूर थी।

• कृषि और पशुपालन दैनंदिन व्यवहार बन चुके थे और कृषि संस्कृति का विस्तार भी हो रहा था। ज्ञान और विज्ञान की साधना हो रही थी।

• वनों में रहकर ही ज्ञानसाधना चलती। इसके लिए वनों में गुरुकुल थे। बड़े-बड़े ज्ञानी ऋषि बच्चों को गुरुकुल में लाकर रखते। उनसे ज्ञान साधना करवाते।

• आरोग्यलाभ और परिरक्षा के लिए आयुर्वेद फैल रहा था। द्रुतगामी वाहन ढूँढ़े जा रहे थे। शंकरजी के लिए नंदी, दुर्गा के लिए सिंह, विष्णु के लिए गरुड़, और सूर्य का घोड़ा-ये सारे किस बात का संकेत देते हैं?

• सत्ययुग में गणितशास्त्र की पढ़ाई काफी प्रगत थी। खासकर कालगणना का शास्त्र। पृथ्वी पर कालगणना अलग थी और ब्रह्मलोक कि अलग थी।

• त्रेतायुग में राजा और राज्य की परिकल्पना का उदय हुआ। ज्ञान का विस्तार हो ही रहा था। अब उसमें नगर रचना,वास्तुशास्त्र, भवन निर्माण, शिल्प जैसे व्यावहारिकता में उपयोगी शास्त्र जुड़ने लगे। ज्ञान से सृजन और उससे संपत्ति का रक्षण महत्त्वपूर्ण हुआ।

• द्वापर युग में राज्य की संकल्पना अपने चरम पर थी। माना जाता है कि महाभारत युद्ध भी द्वापर के अंतिम चरण में घटा है। महाभारत युद्ध में पृथ्वी के प्रायः सभी राजा और क्षत्रिय योद्धा मारे गए।

बल्कि गुण और कर्मों से था। भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा 'चातुर्वण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।' और यह सच भी था, क्योंकि विष्णु को क्षत्रिय, परंतु उनके पुत्र ब्रह्मदेव को ब्राह्मण कहा गया। शंकर वर्णों से परे हैं लेकिन उनके पुत्र कार्तिकेय क्षत्रिय, तो गणेश ब्राह्मण कहलाए। अश्विनीकुमार तथा धन्वंतरी के वर्ण के संदर्भ में मैंने कुछ नहीं पढ़ा है। विश्वामित्र पहले क्षत्रिय थे, फिर ब्रह्मर्षि कहलाए। लेकिन इन गिने-चुने उदाहरणों को छोड़ दें तो अगले सैकड़ों वर्षों मे ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलता जिसमें मनुष्य के जन्मजात वर्ण के अलावा गुणों और कर्मों के अनुरूप उसका परिचय अन्य वर्णीय किया गया हो। उस काल का साहित्य या अन्य वाङ्मय ऐसा उदाहरण नहीं दिखाते। क्या हम यह कहें कि इस प्रकार गुणकर्म-आधारित वर्णव्यवस्था समाजधुरिणों का एक दिवास्वप्न मात्र बनकर रह गई।

त्रेता के बाद आए द्वापर युग में राज्य की संकल्पना अपने चरम पर थी। माना जाता है कि महाभारत युद्ध भी द्वापर के अंतिम चरण में घटा है। महाभारत युद्ध में भारत के प्रायः सभी राजा और क्षत्रिय योद्धा मारे गए। फिर समाज-व्यवस्था और नियम-कानून टिकाए रखने के लिए उस जमाने के समाजशास्त्रियों ने क्या किया? महाभारत युद्ध के बाद कोई उल्लेखनीय राज्यव्यवस्था न होते हुए भी समाजव्यवस्था कैसे टिक पाई, यह चर्चा किसी ग्रंथ में नहीं मिलती।

इसके बाद आया कलियुग। इस काल में गणराज्यों की कल्पना उदित हुई जिसमें लोगों के एकत्र सोच-विचार से राज्य व्यवस्था चलाने की बात थी। भारत में यह परंपरा 2500 वर्ष पहले चली और फिर खंडित हो गई। लेकिन करीब 500

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी एक अलग महत्त्व रखती हैं। इन दो सौ वर्षों में विज्ञान की प्रगति अभूतपूर्व गति से हुई। साथ ही उद्योग-जगत की क्रांति का महत्त्व इसलिए है कि इस नई क्रांति ने हस्त उद्योगों की छुट्टी कर दी और मशीनों द्वारा असेंब्ली लाइन पर एक साँचे में ढले सैंकडों उत्पादन बनने लगे।

वर्ष पहले पश्चिमी देशों में लोकतंत्र की परिकल्पना ने अच्छी तरह जड़ पकड़ ली और अब संसार के कई देशों में यही राज्य व्यवस्था है। जहाँ नहीं है, उस देश को मानवी विकास की दृष्टि से कम आँका जाता है।

इसका अर्थ हुआ कि त्रेता और द्वापर युग में राजा नामक जो संकल्पना उदित हुई वह कलियुग के इस दौर में कालबाह्य हो रही है।

चौदहवीं सदी से पहले स्थल मार्ग से पश्चिमी देशों के आक्रमण भारत पर होते रहे। लेकिन चौदहवीं सदी में समुद्री रास्ते से व्यापार बढ़ने लगा। सिंदबाद की साहसी समुद्री यात्रा की कथाओं को 'अरेबियन नाइट्स' कथासंग्रह में एक सम्माननीय स्थान प्राप्त था। इस काल में इंग्लैंड, स्पेन, पुर्तगाल, डेन्मार्क , फ्रांस आदि देशों में समुद्र यात्राएँ, समुद्री मार्गों के नक्शे बनाना, उच्च कोटि की नौकाएँ बनाना और नौसेना की टुकड़ियाँ तैयार रखना महत्त्वपूर्ण बात हो गई ।

उन दिनों स्थल मार्ग से भारत से यूरोप में ले जाया जानेवाला माल उच्च कोटि का हुआ करता था। उसमें कपड़ा, रेशम, मोती, मूँगे, बेशकीमती नगीने, जवाहरात, मसाले, औषधि वनस्पतियाँ आदि प्रधान थे। उसके बदले में व्यापार करने के लिए यूरोपीय देशों के पास कुशलता से बने शस्त्र, तोप, बंदूक आदि थे। तलवार और तीरों के दिन बीते नहीं थे, लेकिन अब तोपें भी साथ में आ गईं, उनके पीछे-पीछे बंदूकें भी।

भारत के साथ व्यापार कायम रखने के लिए बड़े पैमाने पर शस्त्र निर्माण का काम किया जाने लगा। इस प्रकार शस्त्रनिर्माण एक ऐसा बड़ा उद्योग बना कि आज भी वह संसार के प्रमुख उद्योगों में एक है ।

वास्को-द-गामा ने तय किया कि वह यूरोप से भारत आने का समुद्री मार्ग खोजकर उसके नक्शे बनाएगा। इस प्रकार समुद्र के रास्ते भारत पहुँचने वाला वह पहला व्यक्ति था। उसके बाद कोलंबस भी चल पड़ा भारत की खोज में और उसने ढूँढ़ लिया एक नया प्रदेश जिसका नाम पड़ा अमरीका। इस प्रदेश में खनिज संपत्ति प्रचुरता से थी, जिसका उपयोग आगे चलकर शस्त्र निर्माण के लिए होता रहा।

इस प्रकार यूरोपीय देशों से समुद्र के रास्ते बड़ी-बड़ी व्यापारिक कंपनियाँ भारत में आने लगीं। इधर हमने स्वयं ही अपने पर निर्बंध लाद लिए और समुद्र को लाँघना धर्म निषिद्ध करार दे दिया। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि जिस संस्कृति में पृथ्वी-प्रदक्षिणा की बात कही गई, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात की गई, समुद्र को लाँघकर लंका में प्रवेश करने वाला मारुति पूजनीय हो गया, उसी देश में समुद्र यात्रा को कब, क्यों और कैसे धर्म निषिद्ध कहा गया?

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी एक अलग

जो चार पुरुषार्थ बताए गए–अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उनमें से काम अर्थात् उपभोग का महत्त्व कलियुग में अत्यधिक बढ़ गया। हम अधिक से अधिक उपभोगवादी हो रहे हैं। हालाँकि काम भी एक पुरुषार्थ है, क्योंकि इसी से कलात्मकता को प्रश्रय मिलता है। फिर भी उपभोगवाद की अति हो जाती है तो सर्वनाश हो जाता है। इसका उदाहरण महाभारत में मिलता है। जब युद्ध समाप्त हुआ तो पृथ्वी के प्रायः सभी राजा और राज्य नष्ट हो चुके थे।

महत्त्व रखती हैं। इन दो सौ वर्षों में विज्ञान की प्रगति अभूतपूर्व गति से हुई। साथ ही उद्योग-जगत् का क्रांति का महत्त्व इसलिए है कि इस नई क्रांति ने हस्त उद्योगों की छुट्टी कर दी और मशीनों द्वारा असेंब्ली लाइन पर एक साँचे में ढले सैंकडों उत्पादन बनने लगे।

यही समय था जब शस्त्र और नौसेना रखने वाले देशों ने अन्य देशों पर अपना राज जमा लिया। उधर लोकतंत्र की जड़ें भी मजबूत हो रही थीं। अतएव बीसवीं सदी में जिन-जिन देशों ने स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी, उन सभी ने लोकतंत्र के आदर्शों पर, खास कर तीन आदर्शों पर-न्याय, समता, और बंधुता पर जोर दिया। यही कारण है कि आज इतने अधिक देशों ने लोक तंत्र को अपनाया हुआ है। इस नई राज्य व्यवस्था में सेना की आमने-सामने लड़ाइयाँ, भू-भाग जीतना आदि अवधारणाएँ भी पीछे छूटने लगीं। वायुसेना और बम के आविष्कार के कारण लड़ाइयों में एक नया आयाम आ गया। साथ ही आक्रमण के बजाय व्यापारिक संबंध बढ़ाने का दौर चल पड़ा। मुगल शासन काल में अंग्रेज, फ्रांसिसी, डच, पुर्तुगाली लोगों ने अपने व्यापारिक केंद्र भारत में बना लिए थे, जिसके लिए उन्हें मुगल शासकों ने मंजूरियाँ दी थीं। इस प्रकार जहाँ त्रेता और द्वापर युग में राज्य जीतना प्रमुख लक्ष्य था, उसकी जगह अब व्यापार जीतना लक्ष्य बन गया ।

आज राजा-महाराजाओं की अपेक्षा उत्पादन में अग्रगण्य उद्यमी, व्यावसायिक कंपनियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जिसे हम सर्विस सेक्टर कहते हैं, जैसे बैंकिंग, कंप्यूटर्स, आवागमन, मोबाइल, इंटरनेट आदि सेवाएँ देने वाले सेक्टर्स आगे आने लगे हैं। अर्थात् अब ब्रह्मदंड या राजदंड के नहीं बल्कि अर्थदंड का युग चल रहा है। और इसके सेवाकारी (सेवाभावी नहीं) युग में बदलने की संभावना भी खूब है।

सारांश यह कि जैसे-जैसे युग बदलते गए–सत्य से त्रेता, त्रेता से द्वापर और द्वापर से कलियुग आया वैसे ही वर्णों का महत्त्व भी बदलने लगा–पहले ब्राह्मण, फिर क्षत्रिय, फिर वैश्य और शूद्र वर्ण अधिक प्रभावी होते गए ।

आर्थिक संपत्ति की माप करने के लिए कभी कृषि-जमीन और पशुधन-जैसे गोधन, अश्वधन और हाथी-प्रमाणभूत थे। लेकिन औद्योगिक क्रांति के बाद जैसे-जैसे मशीन से वस्तुएँ बनने लगीं और उनका उत्पादन आदमी की हाथ की बनी वस्तुओं की तुलना में हजारों-लाखों गुना अधिक बढ़ गया, वैसे-वैसे उद्योग और उद्यमी अर्थात् जिसे हम सेकंडरी सेक्टर ऑफ प्रॉडक्शन कहते हैं, उसका महत्त्व बढ़ गया। फिर व्यापार बढ़ा, तो सर्विस सेक्टर का महत्त्व बढ़ गया।

जो चार पुरुषार्थ बताए गए–अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उनमें से काम अर्थात् उपभोग का महत्त्व कलियुग में अत्यधिक बढ़ गया। हम अधिक से अधिक उपभोगवादी हो रहे हैं। हालाँकि काम भी एक पुरुषार्थ है–क्योंकि इसी से कलात्मकता को

प्रश्रय मिलता है। फिर भी उपभोगवाद की अति हो जाती है तो सर्वनाश हो जाता है। इसका उदाहरण महाभारत में मिलता है। जब युद्ध समाप्त हुआ तो भारत के प्रायः सभी राजा और राज्य नष्ट हो चुके थे। हस्तिनापुर से दूर द्वारका में यदुवंशी-राजाओं ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। अब वे निश्चिंत थे। अगले कई वर्षों में कोई युद्ध नहीं आने वाला था। उन्हें क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाने की कोई गरज नहीं आने वाली थी। वे भोग की तरफ मुड़े। क्रीडा, द्यूत और शराब, इन्हीं में ऐसे डूबे कि आखिर आपस में ही लड़कर यदुवंश के सारे क्षत्रियों का नाश हुआ।

आज के युग में अर्थव्यवहार का अत्यधिक महत्त्व है और इसका आरंभ अठारहवीं सदी में जो औद्योगिक क्रांति आई, वहाँ से है। पहले उत्पादन और व्यापार विकेंद्रित थे, लेकिन औद्योगिक क्रांति ने दिखा दिया कि वे केंद्रित तरीके से भी किए जा सकते हैं। आज इक्कीसवीं सदी में हम केंद्रित और विकेंद्रित दोनों व्यवस्थाओं को तौल सकते हैं। विकेंद्रित व्यवस्था सर्वसमावेशक होती है। वह अधिक टिकाऊ भी होती है-दीर्घकालीन होती है। लेकिन केंद्रित व्यवस्था में हजारों गुना अधिक उत्पादन क्षमता होती हैं। इसीलिए उसके आगे-पीछे के ताने-बाने भी उसी तरह बुनने पड़ते हैं। यदि फलों का जूस बनाने की फैक्ट्री हो, तो उसे रोजाना अमुक टन फल, इतना पानी, इतनी बिजली, इतने खरीदार भी चाहिएँ– उन्हें आकर्षित करने को

आज इक्कीसवीं सदी में हम केंद्रित और विकेंद्रित दोनों व्यवस्थाओं को तौल सकते हैं। विकेंद्रित व्यवस्था सर्वसमावेशक होती है। वह अधिक टिकाऊ भी होती है-दीर्घकालीन होती है। लेकिन केंद्रित व्यवस्था में हजारों गुना अधिक उत्पादन क्षमता होती हैं। इसीलिए उसके आगे-पीछे के ताने-बाने भी उसी तरह बुनने पड़ते हैं। ऐसे समय कई बार नैतिक, अनैतिक का विचार भी दूर रह जाता है। यदि अमरीका में शस्त्र बनाने की फैक्ट्रियाँ हैं और उन्हें चलना हैं तो जरूरी है कि संसार में कोई न कोई दो देश युद्ध की स्थिति में हों और उन्हें शस्त्र खरीदने की जरूरत बनी रहे। या जब कोई कंपनी लाखों यूनिट इंसुलिन बनाने वाली फैक्ट्री चलाती है तो जरूरी हो जाता है कि लोगों को डायबिटीज हो।

• कलियुग। इसके पिछले दो-अढ़ाई हजार वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। इस काल में गणराज्यों की कल्पना उदित हुई जिसमें लोगों के सामूहिक सोच-विचार से राज्य व्यवस्था चलाने की बात थी।

• त्रेता और द्वापर युग में राजा नामक जो संकल्पना उदित हुई वह कलियुग के इस दौर में कालबाह्य हो रही है।

• चौदहवीं सदी से पहले स्थल मार्ग से पश्चिमी देशों के आक्रमण भारत पर होते रहे, लेकिन 14वीं सदी में समुद्री रास्ते से व्यापार बढ़ने लगा।

• भारत से यूरोप में ले जाया जानेवाला माल उच्च कोटि का हुआ करता था। उसमें कपड़ा, रेशम, मोती, मूँगे, बेशकीमती नगीने, जवाहरात, मसाले, औषधि वनस्पतियाँ आदि प्रधान थे। उसके बदले में व्यापार करने के लिए यूरोपीय देशों के पास कुशलता से बने शस्त्र, तोप, बंदूक आदि थे।

• यूरोपीय देशों से समुद्र के रास्ते बड़ी-बड़ी व्यापारिक कंपनियाँ भारत में आने लगीं। इधर हमने स्वयं ही अपने पर निर्बंध लाद लिए और समुद्र को लाँघना धर्म निषिद्ध करार दे दिया।

• शस्त्र और नौसेना रखने वाले देशों ने अन्य देशों पर अपना राज जमा लिया। उधर लोकतंत्र की जड़ें भी मजबूत हो रही थीं।

• लोकतंत्र की नई राज्यव्यवस्था में सेना की आमने-सामने लड़ाइयाँ, भू-भाग जीतना आदि अवधारणाएँ भी पीछे छूटने लगीं। वायुसेना और बम के आविष्कार के कारण लड़ाइयों में एक नया आयाम आ गया।

विज्ञापन भी चाहिए। ऐसे समय कई बार नैतिक, अनैतिक का विचार भी दूर रह जाता है । यदि अमरीका में शस्त्र बनाने की फैक्ट्रियाँ हैं और उन्हें चलना हैं तो जरूरी है कि संसार में कोई न कोई दो देश युद्ध की स्थिति में हों और उन्हें शस्त्र खरीदने की जरूरत बनी रहे। या जब कोई कंपनी लाखों यूनिट इंसुलिन बनाने वाली फैक्ट्री चलाती है तो जरूरी हो जाता है कि लोगों को डायबिटीज हो ।

औद्योगिक क्राँति आई तो उसमें उतरने वाले लोगों को नए हुनर, नए तरीके सीखने की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार आज का युग जो टर्शियरी सेक्टर का युग है, इसके लिए आवश्यक हुनर भी कुछ अलग तरह के हैं। जैसे-फाइनांसियल मैनेजमेंट, कंप्यूटर्स, फिल्म निर्माण, इवेंट मेनेजमेंट; ये ऐसे हुनर हैं जो खेती करने या प्रोडक्शन इंजीनियरिंग से नितांत भिन्न हैं।

आज तीन नए सेक्टर्स सर्विस सेक्टर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो रहे हैं। चाहें तो हम उन्हें चतुर्थ, पंचम और षष्ठ सेक्टर कह सकते हैं–

• एक है इंफ्रंस्ट्रक्चर का सेक्टर-जैसे नए रास्ते, नए मकान, नई ऑप्टीकल फाइबर केबल की लाइनें इत्यादि।

• दूसरा है इन्फार्मेशन टेक्नॉलॉजी का सेक्टर। इसे भले ही सर्विस सेक्टर में माना जाता था, पर अब इसे अपना अलग दर्जा दिया जाए इतना इसका स्वरूप बदल रहा है।

• तीसरा अति महत्त्वपूर्ण सेक्टर है आर डी, एचआरडी का। अर्थात् एक ओर रिसर्च और उसके साथ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट भी। हुनर अर्थात् कौशल्य की शिक्षा, पेटंट, इंटलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट,आदि अब एक नए सेक्टर के रूप में आगे आ रहे हैं। शायद इन्हीं के कारण भविष्यकाल

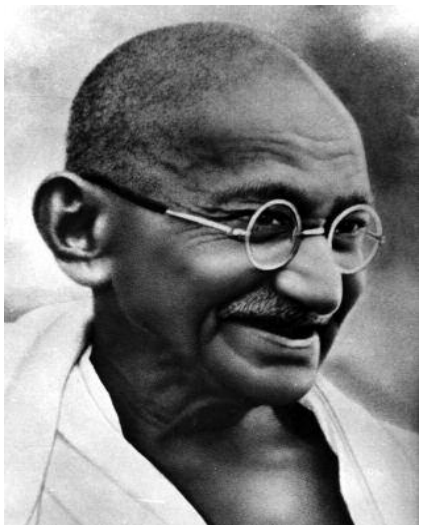

केवल आविष्कार से या क्रांति से युगांतर नहीं होता। जब उस आविष्कार के कारण समाज में जीवन मूल्य बदलते हैं और समाज व्यवस्था बदलती है, तब युगांतर होता है और इसके लिए आवश्यक है कि मूल्यों की चर्चा होती रहे। महात्मा गांधी और बाबासाहेब अंबेडकर ने अस्पृश्यता को खतम कर एक नए जीवन-मूल्य में लोगों को ढाल दिया और इस प्रकार एक युग परिवर्तन कर दिया।

युगांतर घटेगा।

औद्यागिक क्रांति ने एक नए युग को जन्म दिया था। इसी प्रकार बिजली और उससे अधिक बल्ब की खोज ने एक नया युग ला दिया। एडीसन ने बल्ब का सफल निर्माण किया, उससे पहले तेल जला कर उजाला किया जाता था। उसकी सीमाएँ थीं। रात्रि पर अंधेरे का साम्राज्य हुआ करता। बहुत कम जगहों पर ही रात में कोई व्यवहार चल पाते। लेकिन अब चौबीस घंटे काम में लगाए जा सकते हैं।

बल्ब के आविष्कार के साथ-साथ रात्रि की अपनी एक अलग संस्कृति बन गई, जो दिन की संस्कृति से अलग, लेकिन उतनी ही कर्मशील है। इसी प्रकार रेडियो, टीवी व मोबाइल ने अलग क्रांति लाई है।

टिश्यु कल्चर और क्लोनिंग से एक नई क्रांति आ रही है। लेकिन मेरी मान्यता है कि केवल आविष्कार या क्रांति से युगांतर नहीं होता। जब उस आविष्कार के कारण समाज में जीवन मूल्य बदलते हैं और समाज व्यवस्था बदलती है, तब युगांतर होता है और इसके लिए आवश्यक है कि मूल्यों की चर्चा होती रहे।

महात्मा गांधी और बाबासाहेब अंबेडकर ने अस्पृश्यता को खतम कर एक नए जीवन-मूल्य में लोगों को ढाल दिया और इस प्रकार एक युग परिवर्तन कर दिया।

राजा राममोहन राय ने सती प्रथा बंद करवा कर और जिन-जिन मनीषियों ने स्त्री शिक्षा को बढ़ावा दिया, उन सभी ने एक और युग परिवर्तन किया। ऐसे युगांतर के पर्व में वर्ण व्यवस्था,अर्थ व्यवस्था, कौशल्य प्रबंधन, राज्य व्यवस्था इन सबको कसौटी पर चढ़ना पड़ता है और यदि वे खरे उतरें, तभी टिक पाते हैं। यदि नहीं टिक पाएँ तो अराजकता की स्थिति बन जाती है, जो कई समाजों और सभ्यताओं को मिटा देती है। कुछेक किसी खास गुट के आसरे से टिक जाती हैं। आवश्यक है कि ऐसी टिकनेवाली और डूबनेवाली सभ्यताओं का लेखा-जोखा हम रख सकें , इसीलिए अनुसंधान व मानव संसाधन विकास का महत्त्व है।

लेखिका भारतीय प्रशासनिक सेवा की
पूर्व अधिकारी और गोवा की
पूर्व मुख्य सूचना-आयुक्त हैं।

भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व-शक्ति-संपन्ना मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश तथा शक्ति का प्रतीक समझी गई। माँ से अधिक पवित्र कोई भी वस्तु ब्रह्मांड में नहीं है। माँ को प्रथम गुरु कहा गया है (माता प्रथमो गुरु)। यक्ष ने प्रश्न किया– हे धर्मराज क्या संसार में कोई वस्तु पृथ्वी से भी भारी है? युधिष्ठिर उत्तर देते हैं 'हे यक्ष, माँ का भार पुत्र पर पृथ्वी से भी अधिक है।' इस रूप में वह सर्वाधिक पूज्य है। भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त विश्व की किसी भी संस्कृति में नारी को ईश्वरत्व एवं देवत्व प्राप्त नहीं हो सकता। उनकी संस्कृति में ईश्वर नारी रूप नहीं हो सकता। पाश्चात्य संस्कृति में नारी फरिशता भी नहीं हो सकती। अन्य कोई भी संस्कृति नारी को देवत्व प्रदान नहीं कर सकती, जबकि भारत में नारी आदि शक्ति भुवनेश्वरी के रूप में प्रतिष्ठित है। जगत् आधारभूता शक्ति है और सभी देवताओं द्वारा वंदिता है।

डॉ. हिम्मत सिंह सिन्हा

भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान

भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। हिंदू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीनकाल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरुषों के सदृश थी। वे अपना मनोनुकूल आत्मविश्वास और उत्थान कर सकती थीं। उन्हें विवाह, शिक्षा, संपत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में हिंदू परिवार और समाज में आदृत थीं। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रूप में किए जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्त्व और गौरव रहा है। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व-शक्ति-संपन्ना मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश तथा शक्ति का प्रतीक समझी गई। माँ से अधिक पवित्र कोई भी वस्तु ब्रह्मांड में नहीं है। माँ को प्रथम गुरु कहा गया है(माता प्रथमो गुरु)। यक्ष ने प्रश्न किया- 'हे धर्मराज क्या संसार में कोई वस्तु पृथ्वी से भी भारी हैं?' युधिष्ठिर उत्तर देते हैं 'हे यक्ष, माँ का भार पुत्र पर पृथ्वी से भी अधिक है।' इस रूप में वह सर्वाधिक पूज्य है। स्नेह की मूर्ति बहन रूपा नारी है, जो वर्ष में दो बार अपने भाई की दीर्घायु तथा वंश बेल की वृद्धि की कामना करती है और इस रूप में अति सम्माननीय मानी जाती है। बेटी तो घर की लाज है, कोई निर्लज्ज ही उसका तिरस्कार करेगा। नारी को गृह की साम्राज्ञी के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया तथा अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिए निर्देशित किया गया। शनैः-शनैः समाज में उसका महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया। पुरुष शब्द की निर्मिति स्त्री, संतान और व्यक्ति की

समष्टि से मानी गई। शास्त्रकारों का कथन है कि केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं, अर्थात् वह अपूर्ण ही रहता है, किंतु स्त्री, स्नेह तथा संतान, ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्ण) होता है। इस प्रकार स्त्री पुरुष की शरीरार्द्ध और अर्द्धांगिनी मानी गई। श्री और लक्ष्मी के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त करने वाली मानी गई। उसका आगमन पुरुष के लिए शुभ, सौरभमय और सम्मानजनक था जिसके संपर्क से उसका व्यक्तित्व मुखर और सन्निविष्ट हो उठता है। जब तक मनुष्य विवाहोपरांत भार्या की प्राप्ति नहीं कर लेता था तब तक वह आधा ही कहा जाता था। आधा शरीर कुछ नहीं कर पाता था और प्रजोत्पति भी पूरा शरीर होने पर ही हो सकती थी तथा पूरा शरीर अर्थात् शरीर की पूर्णता विवाहिता पत्नी से ही संभव थी। इस दृष्टि से वह सम्मान की पूर्ण अधिकारी थी।

वैदिक वाङ्मय में नारी की अवस्था अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत थी। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने, जिन में फ्रॉयड जैसे मनोवैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, यह मत व्यक्त किया है कि नारी में न्याय की भावना अत्यल्प होती है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में ईर्ष्या की मात्रा अधिकाधिक है। किंतु भारतीय शास्त्रों में इस प्रकार की कोई भ्रांति नहीं है। भारतीय विचारकों ने स्त्रियों के प्रति आदर ही व्यक्त किया है तथा इन्हें देवी का प्रतीक माना है। भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त विश्व की किसी भी संस्कृति में नारी को ईश्वरत्व एवं देवत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

वैदिक वाङ्मय में नारी की अवस्था अत्यंत उन्नत और परिष्कृत थी। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने, जिन में फ्रॉयड जैसे मनोवैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, यह मत व्यक्त किया है कि नारी में न्याय की भावना अत्यल्प होती है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में ईर्ष्या की मात्रा अधिकाधिक है। किंतु भारतीय शास्त्रों में इस प्रकार की कोई भ्रांति नहीं है। भारतीय विचारकों ने स्त्रियों के प्रति आदर ही व्यक्त किया है तथा इन्हें देवी का प्रतीक माना है। भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त विश्व की किसी भी संस्कृति में नारी को ईश्वरत्व एवं देवत्व प्राप्त नहीं हो सकता। उनकी संस्कृति में ईश्वर नारी रूप नहीं हो सकता। एक बार यह चर्चा नारी सशक्तीकरण आंदोलन वालों ने चलाई कि ईश्वर पुरुष है या स्त्री है। मैंने लिख दिया है कि यह प्रश्न न तो तत्त्व ज्ञान का है, न ईश्वर मीमांसा का, अपितु यह तो व्याकरण का प्रश्न है। यदि ईश्वर के साथ 'शीं' लगा दें तो वह स्त्रीलिंग बोधक शब्द लगाने से स्त्री बन जाएगा। इस पर बावेला खड़ा हो गया कि यह तो ईशानिंदा है, क्योंकि ईश्वर के साथ 'शी' लगाना उसका अपमान है। कुरान शरीफ के अनुसार भी अल्लाह या खुदा के लिए पुरुषवाचक क्रिया का ही प्रयोग हो सकता है। स्त्रीवाचक शब्द का प्रयोग करना ईशद्रोह माना जाएगा। अतः अन्य कोई भी संस्कृति नारी को देवत्व प्रदान नहीं कर सकती, जबकि भारत में नारी आदि शक्ति भुवनेश्वरी के रूप में प्रतिष्ठित है। जगत् आधारभूता शक्ति है और सभी देवताओं द्वारा वंदिता है। पाश्चात्य संस्कृति में नारी फरिश्ता भी नहीं हो सकती। इन के धर्म ग्रंथ कहते हैं कि प्रत्येक सितारे पर एक-एक फरिश्ता दिन रात ईश भजन में लगा रहता है। इतने करोड़ फरिश्तों में एक भी फरिश्ता स्त्री रूप में नहीं है। अतः नारी का पद फरिश्तों तक का भी नहीं है। फिर वह क्या है? वहाँ तो वह देवदूत सदृश नहीं हो सकती तथा उस पर देवदूतीय गुण आरोपित नहीं किए जा सकते,

जबकि भारतीय देवमाला में एक नहीं अनेक देवियाँ हैं– लक्ष्मी, सरस्वती, श्रीदेवी, दुर्गा आदि न जाने कितनी देवियाँ हैं। अतः नारी को देवत्व का दर्जा भारतीय संस्कृति में ही प्रदान किया गया है। अन्य किसी संस्कृति में नहीं। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आदृत और प्रतिष्ठित है।

वैदिक साहित्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में नारी का महान् योग था। वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थी और उन्मुक्ततापूर्वक विचरण करती थी। पुरुषों की तुलना में वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। नववधू श्वसुर गृह की साम्राज्ञी होती थी। वह पति के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान करती थी। इस प्रकार वह पुरुषों की ही तरह समाज की स्थायी और गौरवशाली अंग थी। वह अत्यंत सुशिक्षित सुसभ्य और सुसंस्कृत होती थी। पारिवारिक और सामाजिक सभी कर्त्तव्यों का वह निष्ठापूर्वक पालन करती थी। यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती तथा उसके दांपत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त करती है। 'गृह' और 'पत्नी' दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध माना जाने लगा और बिना पत्नी के 'गृह' की कल्पना व्यर्थ मानी गई। उसका परंपरागत आदर और सम्मान बराबर बना रहा तथा उसके प्रति समाज की धारणा पूर्ववत् उन्नत बनी रही।

वैदिक साहित्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि शिक्षा, धर्म व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उसका महान् योग था। वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थी और उन्मुक्ततापूर्वक विचरण करती थी। पुरुषों की तुलना में वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। नववधू श्वसुर गृह की साम्राज्ञी होती थी। वह पति के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान करती थी। इस प्रकार वह पुरुषों की ही तरह समाज की स्थायी और गौरवशाली अंग थी।

आर्यों के प्रारंभिक समाज में स्त्रियाँ स्वतंत्र थीं। वे बिना किसी प्रतिबंध के सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थीं। वस्तुतः वैदिक युग में स्त्री जितनी स्वतंत्र और मुक्त थी, उतनी परवर्ती काल में किसी भी युग में तथा किसी भी समाज में नहीं थी। सभी दृष्टियों से वह पुरुषों के समान थी। उसके अधिकार किसी भी प्रकार से कम नहीं थे। शिक्षा, ज्ञान, यज्ञ आदि विभिन्न क्षेत्रों में वह निर्विरोध स्वतंत्रतापूर्वक सम्मिलित होती तथा आदर प्राप्त करती थी। उस युग में ऐसी अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने ऋग्वेद और अन्य वेदों की अनेक ऋचाओं का प्रणयन किया था। लोपामुद्रा, विश्ववधारा, सिक्ता, घोषा आदि ऐसी ही प्रबुद्ध स्त्रियाँ थी। शिक्षा, ज्ञान और विद्वता के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि याज्ञिक कार्यों में भी वे अग्रणी थीं। 'ब्रह्मयज्ञ' में जिन ऋषियों की गणना की जाती है उनमें सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों के भी नाम लिए जाते हैं, जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों के समान थी। विदेह-शासक जनक ने यज्ञ के अवसर पर जो धार्मिक शास्त्रार्थ आयोजित किया था, उसमें गार्गी ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा, विलक्षण तर्क शक्ति और सूक्ष्म विचार-तंतुओं से दुरूह पृच्छाएँ करके

याज्ञवल्क्य ऋषि के दाँत खट्टे कर दिए। इन साक्ष्यों से यह विदित होता है कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषों के साथ विद्वद्गोष्ठियों और दार्शनिक वाद-विवादों में सम्मिलित होती थीं। उनके मान और सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। समाज में वे पुरुषों की तरह आदृत थीं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, समारोहों में वे अलंकृत होकर बिना किसी प्रतिबंध के उन्मुक्त होकर हिस्सा लेती थीं। बिना उनके साथ और सहयोग के यज्ञ पूरा नहीं माना जाता था। वह यज्ञ की अधिकारिणी थी। अकेला पुरुष यज्ञ के लिए अयोग्य था। सीता के न होने पर राम को अश्वमेध यज्ञ करते समय अपनी पत्नी सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनानी पड़ी थी। अतः यज्ञ और धार्मिक आयोजनों में पत्नी का होना आवश्यक था। गुप्त युग तक कन्या 'शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शाक्त धर्म के प्रभाव के कारण उसे 'गौरी' और 'भवानी' का रूप प्रदान किया गया।

पाश्चात्य संस्कृति के कुछ अनुयायी तथा अपने आप को प्रगतिवादी कहने वाले विचारक यह आपत्ति उठाते हैं कि भारत में तो नारी की स्वतंत्रता पर बहुत प्रतिबंध लगाए गए हैं। जन्म से मृत्यु तक उन्हें पुरुष के नियंत्रण में रखने के लिए निर्देशित किया गया। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियों में वे क्रमशः पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और संरक्षित मानी गईं। (मनु.9.3), पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरेपुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति।।

निश्चय ही ये प्रतिबंध उसकी पवित्रता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर आरोपित किए गए थे। जिसका एक प्रधान कारण विदेशियों का आक्रमण भी था। यह नारी स्वातंत्र्य का अपहरण नहीं है, नारी को निर्बाध रूप से अपना स्वधर्म पालन कर सकने के लिए बाह्य आपत्तियों से उसकी रक्षा हेतु पुरुष समाज को

भारतीय नारी बिना पर्दे के स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषों के साथ विद्वद्गोष्ठियों और दार्शनिक वाद-विवादों में सम्मिलित होती थी। उसके मान और सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। समाज में वे पुरुषों की तरह आदृत थी। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, समारोहों में वे अलंकृत होकर बिना किसी प्रतिबंध के उन्मुक्त होकर हिस्सा लेती थी। बिना उसके साथ और सहयोग के यज्ञ पूरा नहीं माना जाता था। वह यज्ञ की अधिकारिणी थीं। अकेला पुरुष यज्ञ के लिए अयोग्य था। सीता के न होने पर राम को अश्वमेध यज्ञ करते समय अपनी पत्नी सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनानी पड़ी थी। अतः यज्ञ और धार्मिक आयोजनों में पत्नी का होना आवश्यक था। गुप्त युग तक कन्या 'शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शाक्त धर्म के प्रभाव के कारण उसे 'गौरी' और 'भवानी' का रूप प्रदान किया गया।

जिम्मेदारी सौंपी गयी और वह इसको धर्म रूप में स्वीकार करना अपना सामाजिक कर्त्तव्य समझता है। नारी-जाति अति पवित्र है, उसकी पवित्रता भ्रष्ट न होने पावे और आर्य महिलाओं में शील का बीज सदा विद्यमान रहे इसलिए कुछ मर्यादाएँ निर्धारित की हैं। वृहद्धर्म पुराण का आदेश है कि घर की शोभा कन्या, संपत्ति की शोभा पांडित्य, पुरुष की शोभा सद्बुद्धि और स्त्रियों की शोभा लज्जा है और यह लज्जा भारतीय नारी के पास ही है। सारांश यह है कि स्त्री की हर संकट से रक्षा करना यह धर्म का कार्य है।

भारतीय नारी रक्षा की पात्र क्यों है, इसके संबंध में हमें अन्य संस्कृतियों में नारी की उत्पत्ति तथा उद्भव की गाथा से तुलना करके देखना आवश्यक हो जाता है। विश्व के दो आधार ग्रंथों नामशः कुरान शरीफ और पवित्र बाइबल में लगभग एक-सी ही कहानी मिलती है। सृष्टि के आरंभ में मिट्टी या खाक से जगत् के कर्ता ने 'आदम' का निर्माण किया परंतु यह अकेला बड़ा उदास घूमता था। ईश्वर ने उसे आदेश दिया कि वह अपने शरीर के अंग से अपना जीवन साथी उत्पन्न करे। हेब्रियो भाषा में उसको हव्वा कहते हैं। पुरुष ने अपनी बांई पसली से अपनी संगिनी नारी को उत्पन्न किया। इस सारी धर्मगाथा से यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य नारी ईश्वर की कृति नहीं है। वह पसली से पैदा हुई है। हड्डी में जड़ता होती है, वह चेतन नहीं होती। पाश्चात्य नारी में चेतना नहीं, जड़ता है। इसके बिलकुल विपरीत भारतीय नारी सच्चिदानंद स्वरूप कला समेत परमेश्वर से निकली है (शारदा तिलक) संस्कृत में 'बृ' धातु नपुंसक लिंग में है जो पुल्लिंग भी तथा स्त्रिलिंग भी है। सभी आर्य शास्त्रों में भगवान को माता और पिता दोनों कहा गया है। (त्वमेव माता च पिता त्वमेव) विष्णु पुराण के प्रथमांश के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि सृष्टि के प्रारंभ में रुद्र आधे शरीर से पुरुष हुए और आधे से स्त्री हुए। अतः भारतीय नारी में दिव्यता भी है, पवित्रता भी है। इस बहुमूल्य निधि का संरक्षण उसके पिता, बंधु और पुत्र ही कर सकते हैं। भारतीय नारी ही जगदंबा रूप में उद्धोष करने की अधिकारी है कि हे अंधकार के दूत धूम्रलोचन मैं शुचिव्रता हूँ, मेरे शरीर को अपवित्र हाथ लगाएगा तो भस्म हो जाएगा। इस पवित्रता के कारण ही भारतीय समाज में नारी सदा ही एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान पर रही है। ऐसा केवल भारतीय

• शास्त्रकारों का कथन है कि केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं, अर्थात् वह अपूर्ण ही रहता है, किंतु स्त्री, स्नेह तथा संतान, ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्ण) होता है। इस प्रकार स्त्री पुरुष की शरीरार्द्ध और अर्द्धांगिनी मानी गई। 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त करने वाली मानी गई।

• भारतीय देवमाला में एक नहीं अनेक देवियाँ हैं लक्ष्मी, सरस्वती, श्री देवी दुर्गा आदि न जाने कितनी देवियाँ हैं। अतः नारी को देवत्व का दर्जा भारतीय संस्कृति में ही प्रदान किया गया है। अन्य किसी संस्कृति में नहीं। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आदृत और प्रतिष्ठित है।

• आर्यों के प्रारंभिक समाज में स्त्रियाँ स्वतंत्र थीं। वे बिना किसी प्रतिबंध के सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थीं। वस्तुतः वैदिक युग में स्त्री जितनी स्वतंत्र और मुक्त थी, उतनी परवर्ती काल में किसी भी युग में तथा किसी भी समाज में नहीं थी। सभी दृष्टियों से वह पुरुषों के समान थी।

• अनेक विदुषी स्त्रियाँ थी, जिन्होंने ऋग्वेद और अन्य वेदों की अनेक ऋचाओं का प्रणयन किया था। लोपामुद्रा, विश्वधारा, सिक्ता, घोषा आदि ऐसी ही पंडिता स्त्रियाँ थी। शिक्षा, ज्ञान और विद्वता के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि याज्ञिक कार्यों में भी वे अग्रणी थी।

• वृहद धर्म पुराण में व्यास जी कहते हैं (2:33) कि पुत्र के लिए माता का स्थान पिता से भी बढ़कर है-तीनों लोकों में माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है।

समाज में ही है कि विद्वान जन, साधु-संन्यासी, बालक -वृद्ध सब लोग स्त्री जाति को 'माता' कहकर ही संबोधित करते हैं। भारतीय नारी बड़े गर्व से कहती है ''माँ जब मुझ को कहा पुरुष ने, तुच्छ हो गए देव सभी, इतना आदर, इतनी महिमा, इतनी श्रद्धा कहाँ, कभी।।'' वृहद् धर्म पुराण में व्यास जी कहते हैं (2:33) कि पुत्र के लिए माता का स्थान पिता से भी बढ़कर है, तीनों लोकों में माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है। भारतीय परिवेश में यह धारणा सर्वत्र मान्य है ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'' इस उद्घोष का बड़ा सामाजिक महत्त्व है। जहाँ नारी का सम्मान नहीं होता वहाँ सब प्रकार के धर्म-कर्म तथा अनुष्ठान विफल हो जाते हैं। इसीलिए भारतवर्ष सदा से ही मातृ वर्ग का सेवक रहा है। इतना ही नहीं वह नारी शक्ति को जगदंबा तथा महाशक्ति कहकर उसका उपासक रहा है।

भारतीय नारी आज अपने आपके प्रगतिशील बनने के लिए नारी सशक्तीकरण आंदोलन का सहारा ले रही है, क्योंकि वह अपने शास्त्रों को भूल गई है। यह आंदोलन तो पश्चिम की देन है। आज से ढ़ाई हजार साल पूर्व यूनान के एक विख्यात दार्शनिक अरस्तु ने जिसका दर्शन सारी यूरोपीय सभ्यता का आधार है, कहा था कि विकास के क्रम में नारी सदैव पुरुष से एक कदम पीछे रहेगी क्योंकि वह ईश्वर की कृति नहीं है। आज इतने लंबे कालखंड के बाद पश्चिम की नारी अरस्तु के इस सिद्धांत को निरस्त करके पुरुष के बराबर आने हेतु नारी सशक्तीकरण जैसे आंदोलन चला रही है। भारत में इतनी हेय बात किसी ने नहीं कही। यहाँ तो नारी आरंभ से ही पुरुष की सहधर्मिणी तथा अर्धांगिनी रही है। कौशल्या तो इससे भी आगे चली

भारतीय नारी सच्चिदानंद स्वरूप कला समेत परमेश्वर से निकली है। सभी आर्य शास्त्रों में भगवान को माता और पिता दोनों कहा गया है। (त्वमेव माता च पिता त्वमेव) विष्णु पुराण के प्रथमांशा के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि सृष्टि के प्रारंभ में रुद्र आधे शरीर से पुरुष हुए और आधे से स्त्री हुए। अतः भारतीय नारी में दिव्यता भी है, पवित्रता भी है। भारत नारी शक्ति को जगदम्बा तथा महाशक्ति कहकर उसका उपासक रहा है।

जाती है, जब राम वन गमन के लिए उनसे आज्ञा लेने गए तो कौशल्या ने कहा ''जो केवल पितु आयुस दाता, तो जनि जाओ जानि बड़ि माता।'' अर्थात् यदि अकेले पिता ने तुम्हें आज्ञा दी है तो तुम नहीं जाओगे, आज्ञा निरस्त की जाती है क्योंकि माता का पद तथा अधिकार पिता से अधिक होता है। यह अधिकार कौशल्या ने नारी शक्ति आंदोलन से प्राप्त नहीं किया, अपितु यह तो शास्त्रविदित है, वेद विहित है। आज नारी स्वयं ही इसको भूल गई है।

यह तो ठीक है कि मध्य युग में आकर नारी को बहुत हेय तथा निंदनीय दृष्टि से देखा जाने लगा। शासक वर्ग वही कुरान तथा बाईबल का संदेश लेकर आया था कि नारी जड़ तथा अपवित्र हड्डी से निकली है, अतः उसको हड्डी की तरह चूसो या खिलौना बनाओ, यही दृष्टिकोण भारतीय नारी पर लाद दिया। परंतु इतनी गिरावट आने पर भी भारतीय (आर्य) नारी की अवस्था अन्य संस्कृतियों तथा जातियों की तुलना में बहुत अच्छी है। घोर पाश्चात्य दृष्टिकोण से विकृत 5 प्रतिशत लोगों को छोड़कर 95 प्रतिशत आज भी माता का बहुत सम्मान करते हैं। वर्ष में कम से कम दो बार तो बहनों को आदर प्रदान करके उनसे तिलक कराके, रक्षा बंधन बंधवा कर अपनी दीर्घायु तथा कुल की वृद्धि का आशीर्वाद लेते हैं। बेटी आज भी परिवार की लज्जा मानी जाती है। समाज तथा घर में उसका सम्मान अन्य समाजों से ज्यादा है तथा उसके अधिकार अधिक स्थिर तथा सुरक्षित हैं फिर भी उसमें सुधार की आवश्यकता है जिससे वह अपना खोया हुआ प्राचीन गौरव तथा गरिमा प्राप्त कर सके।

लेखक कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के पूर्व अध्यक्ष हैं।

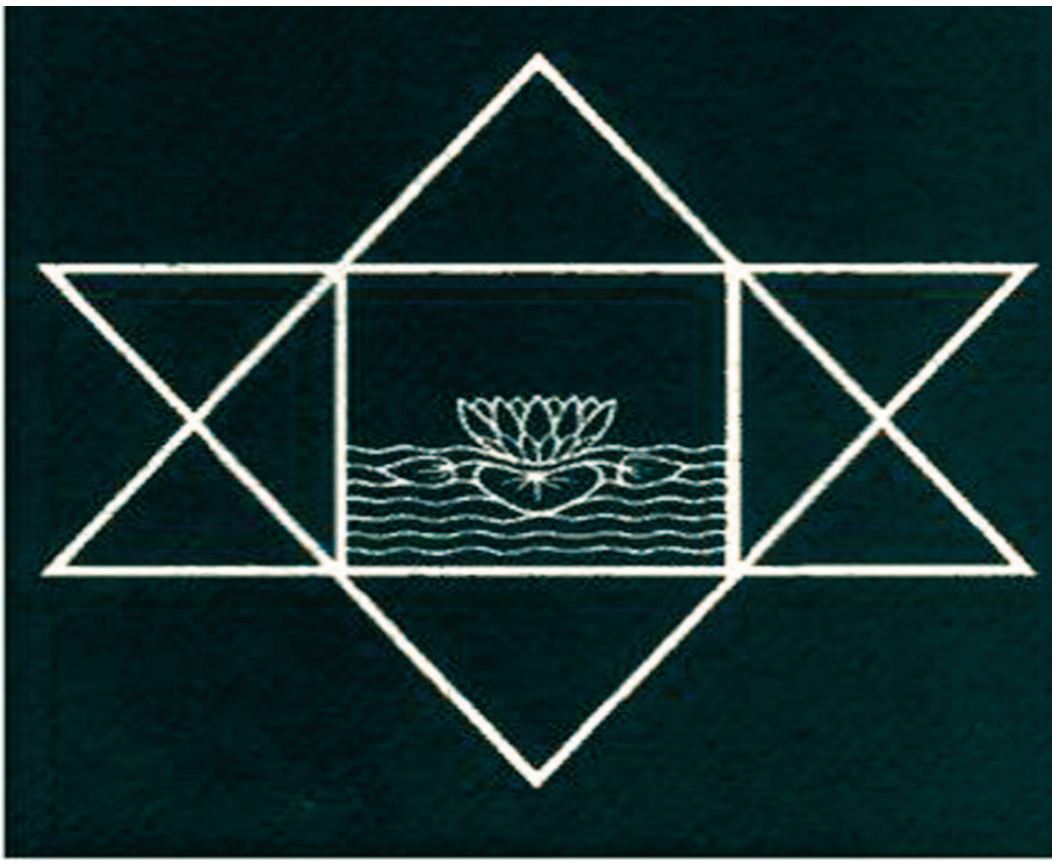

भारत की संस्कृति, धर्म, इतिहास, समाज और भाषा को नष्ट-भ्रष्ट करने का सुनियोजित षड्यंत्र चर्च, वहाबी इस्लाम और मार्क्सवाद ने किस प्रकार से चलाया इसका उल्लेख मंगल विमर्श के जनवरी,2017 अंक में विस्तार से किया जा चुका है। विश्व में किसी न किसी दौर में ये तीनों मठ बहुत ही शक्तिशाली रहे और तत्कालीन सत्ताधीशों को अपने अंगुलियों पर नचाते रहे हैं, लेकिन अंततः इनके पापाचार ही इन्हें ले डूबे। मार्क्सवाद का लाल झंडा तो 25 दिसम्बर, 1991 को सदैव के लिए विधिवत रूप से खम हो गया, इस्लामिक कट्टरपंथ के नाम पर चला खलीफत भी अपनों या परायों के हिंसाचार कर शिकार हुआ और चर्च आधारित पोप का मठ, बस नाम के लिए ही बरकरार है वरना आज इसकी हालत खुद अपनी ही करतूतों के कारण खस्ता हाल है। इसके ठीक विपरीत भारतीय संस्कृति और अध्यात्म के महत्त्व को दुनियाभर के चिंतक, विद्वान, इतिहासकार और साहित्कार खुले ह्रदय से स्वीकार करने लगे हैं। हडप्पा सभ्यता एवं सरस्वती नदी संबंधी नित् नवीन खोजें संपूर्ण परिदृष्य को जिस प्रकार परिवर्तित और परिवर्द्धित करती नजर आ रही हैं, उस संबंद्ध में प्रस्तुत है सुप्रसिद्ध चिंतक और लेखक आनंद आदीश के आलेख की दूसरी और समापन कड़ी--

आनंद आदीश

हिंदू-विद्वेषः निवेशन, निहितार्थ एवं निदान-2

लेख के पूर्वार्ध में हम कह आए हैं कि ये तीनों ही मठ (वहाबी इस्लाम, चर्च और मार्क्सवादी) किसी न किसी समय अत्यंत शक्तिशाली, साधन-संपन्न, दबंग साम्राज्यवादी ताकत रह चुके हैं। परंतु सत्यमेव-जयते के अमर प्राकृतिक सिद्धांत के चलते झूठ की आयु अल्प ही होती है और उसे उसके पाप ही ले डूबते हैं।

साम्यवाद की शव परीक्षा तो अभी कल की ही बात है। सात नवंबर,1917 को बोल्शेविक क्रांति के साथ साम्यवाद सत्तासीन हुआ और कुछ ही वर्षों में विश्व पटल पर छा गया। दुनिया भर के मजदूरों को जन्नत का झूठा नारा थमा कर देखते ही देखते 25 दिसंबर,1991 को हँसिया-हथोड़ा का लाल झंडा सदैव के लिए विधिवत खम हो गया। पीछे छोड़ गया लेनिन, स्टॉलिन और माओ जैसे खूनी तानाशाहों की लोमहर्षक, दिल दहला देने वाली मार्क्सवादी कथा तथा आकंठ भ्रष्टाचार में डूबी शासन प्रणाली की रक्तरंजित व्यथा।

इस्लामिक कट्टर पंथ का रुतबा कुछ शताब्दियों तक खलीफत के नाम से चला। परंतु मुहम्मद साहेब के बाद खलीफा बने अबू बक्र सिद्दकी को अपवाद मान लें, तो प्रायः सभी खलीफा भी दो दिन आगे या पीछे अपनों या परायों के हिंसाचार के शिकार बने। प्रथम चार खलीफा सुन्नियों द्वारा मान्य रहे और पाँचवें खलीफा अली से शिया संप्रदाय वजूद में आ गया। परंतु उनके और उनके सुपुत्रों के साथ कर्बला के युद्ध में की गई धोखाधड़ी और क्रूरता को शिया संप्रदाय कभी नहीं भूल पाया। आज भी प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धा और शोक में डूबकर वे इस घटना का स्मरण करते हैं। हसन ने खलीफत, मुआव्याह को सौंप दी थी, जिससे उम्म्याद वंश का प्रारंभ हुआ। परंतु खलीफत बगदाद की रही हो या काहिरा की, 750 से 1517 तक गृह-कलह और षड्यंत्र की कहानी कहती है, खून-खराबे की ही लंबी दास्ताँ है। 16 वीं शताब्दी के प्रारंभ में ऑटोमन साम्राज्य का जो दबदबा प्रारंभ हुआ तो कुछ शताब्दियों

साम्यवाद की शव परीक्षा तो अभी कल की ही बात है। सात नवंबर,1917 को बोल्शेविक क्रांति के साथ साम्यवाद सत्तासीन हुआ और कुछ ही वर्षों में विश्व पटल पर छा गया। दुनिया भर के मजदूरों को जन्नत का झूठा नारा थमा कर देखते ही देखते 25 दिसंबर,1991 को हँसिया-हथोड़ा का लाल झंडा सदैव के लिए विधिवत ख़म हो गया। पीछे छोड़ गया लेनिन, स्टॉलिन और माओ जैसे खूनी तानाशाहों की लोमहर्षक, दिल दहला देने वाली मार्क्सवादी कथा तथा आकंठ भ्रष्टाचार में डूबी शासन प्रणाली की रक्तरंजित व्यथा।

तक तो ऐसा लगा कि मिस्र आदि से शुरू होकर संपूर्ण पश्चिम एशिया, ईरान ही नही दक्षिण पूर्वी-यूरोप तक के लगभग 20 देश तुर्की स्थित खलीफा की जकड़ में हैं। परंतु वह भी प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) आते-आते हाँफने लगा और प्रगतिशील विचारों के धनी मुस्तफा कमाल पाशा के हाथों 1924 में विधिवत सुपुर्दे खाक हो गया।

विडंबना देखिए, इसकी धमक भारत में शांति प्रिय निरपराध हिंदुओं पर सांप्रदायिक आक्रमणों की एक लंबी शृंखला के रूप में सुनाई दी, जिसकी परिणति सन् 1947 में भारत विभाजन की त्रासदी के रूप में सामने आई। कमाल तो तब हुआ जब देश विभाजन के लिए जिम्मेदार उसी मुस्लिम लीग के भारत में रह गए कुछ सांप्रदायिक गुंडे रजाकर और उनके समर्थक साम्यवादी रातों-रात कांग्रेस की चापलूसी कर छद्म सेक्यूलरिस्ट बनकर गलबहियाँ करने लगे और हिंदू विद्वेष को पहले से भी अधिक जोशो-खरोश से हवा देने लगे।

भारतीय मुसलमानों के हाथ से एक स्वर्णिम अवसर निकल गया, जब वे वहाबी कट्टरपन के चंगुल से स्वयं को मुक्त कर विज्ञान-सम्मत वैश्विक विचारधारा का अंग बन अपने समाज को अशिक्षा, अज्ञान और मतांधता जैसी बीमारियों से मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर सकते थे। इस्लाम की बड़ी भारी सेवा का अवसर खो गया। इसमें दोष उनका कम, उनके वोट के लालची कांग्रेसियों और उसके चापलूस कम्यूनिस्टों का अधिक है। वोट बैंक की यह नीति ही भारत में सांप्रदायिक दंगों की जड़ में खाद पानी का काम करती है। इसी की सहायक जाति-प्रथा के रूप में यूं तो शताब्दियों पूर्व से ही समाज के ताने-बाने को झंझोड़ रही थी, परंतु आजादी के बाद से तो समाज जाति के आधार पर इतना कटा-पिटा हो गया है कि पहचान से परे नजर आता है। ग्राम पंचायतों से लेकर विधानसभा, लोकसभा और यहाँ तक कि विभिन्न सामाजिक - शैक्षणिक संस्थाओं के चुनाव भी पंथिक और जातीय समीकरणों को ध्यान में रखकर लड़े जाने लगे हैं। तुर्रा फिर भी सेक्यूलरिज्म का।

इस्लाम की सर्वाधिक कुसेवा का यश या अपयश तो वहाबीपन के खाते में जाता है। इसी विचारधारा के परिणाम स्वरूप पूरी मुस्लिम बिरादरी न केवल विकास यात्रा में शेष दुनिया की तुलना में बहुत पिछड़ गई है, अपितु अशिक्षा और अज्ञान के वशीभूत आतंकवाद की उर्वरा भूमि के रूप में बदनाम हो रही है। वहाबी विचारधारा के जनक मुहम्मद-इब्बन-अब्द-अल-वहाब (1703-92) ने सभी पीरों, संतों, सूफियों, दरगाह को मूर्तिपूजक घोषित कर उनके कर्म को शिर्क, बुत-शिकनी तथा बिदाह (अपवित्र और सुधारवादी) करार देकर उनके विनाश को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना

लिया। अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए उसने सऊदी-अरब के राजपरिवार मुहम्मद-बिन-सउद के साथ एक दुरभि-संधि कर पंथिक ही नहीं राज-सत्तात्मक शक्ति भी बटोर ली। लगभग 200 वर्ष से चली आ रही इन दोनों की यह मिली-भगत आज दुनिया भर के मुसलमानों का मुख्य स्वर होने का दावा कर रही है। पेट्रोडालर के सहारे इनका कट्टरवाद दुनिया के मुस्लिम समाज पर हावी हो गया है। वहाबी मत बहुराष्ट्रीय कंपनी की तर्ज पर सामान्य मुसलमानों की भोली-भाली श्रद्धा और आस्था का लाभ उठाकर मजे कर रहा है। दूसरी ओर राजपरिवार, इस्लामी समाज का रहनुमा बनकर, निष्कंटक राज कर रहा है। इस्लाम अरब का अंतरराष्ट्रीय संस्करण बन कर रह गया है। कई बार तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि अन्य मुस्लिम देश तथा समाज अरब के उपनिवेश मात्र हैं, न कि स्वतंत्र चेता राष्ट्र या समाज। अपने ही देश में पराये, हो गए हैं। उनकी अपनी संस्कृति, सभ्यता, रीतिरिवाज यहाँ तक कि भाषा, वेशभूषा तक लुप्त होती जा रही हैं। आप चाहें तो इसे उपनिवेशवाद का अरबी संस्करण कह सकते हैं, जिसका दंश कम अधिक मात्र में उन समाजों को भी भोगना पड़ रहा है, जिनकी अपनी स्वयं की बड़ी समृद्ध परंपरा है। भारत जैसे उदार और शांतिप्रिय राष्ट्र को इसका दुष्परिणाम देश विभाजन की विभीषिका के रूप में 1947 में भोगना पड़ा । मुस्लिमलीगी मानसिकता से उपजी सांप्रदायिकता की विष-बेल भारत की ही नहीं दुनिया की त्रासदी है। इस मनोवृत्ति का भरपूर दुरुपयोग वामपंथियों व छद्म धर्म-निरपेक्षतावादियों ने नव-उदारवाद का लबादा ओढ़कर भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को कमजोर करने के लिए किया है।

वोट बैंक की यह नीति ही भारत में सांप्रदायिक दंगों की जड़ में खाद पानी का काम करती है। इसी की सहायक जाति-प्रथा के रूप में यूं तो शताब्दियों पूर्व से ही समाज के ताने-बाने को झंझोड़ रही थी, परंतु आजादी के बाद से तो समाज जाति के आधार पर इतना कटा-पिटा हो गया है कि पहचान से परे नजर आता है। ग्राम पंचायतों से लेकर विधानसभा, लोकसभा और यहाँ तक कि विभिन्न सामाजिक -शैक्षणिक संस्थाओं के चुनाव भी पंथिक और जातीय समीकरणों को ध्यान में रखकर लड़े जाने लगे हैं। तुर्रा फिर भी सेक्यूलरिज्म का।

डी. डी. कोशांबी जैसे वामपंथी इतिहासकारों का दावा था कि एक सच्चे जनवादी होने के कारण वे जमीनी हकीकत का चप्पा-चप्पा छानने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। परंतु इनका खोखलापन तब जग जाहिर हो गया जब मात्र एक पुणे नगर की परिक्रमा कर इन्होने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' (An Introduction to The Study of Indian Histroy) के रूप में संपूर्ण भारतीय इतिहास को बनावटी मार्क्सवादी लबादे में लपेटकर अपने को कम्यूनिस्ट टीम का मुखिया स्थापित कर लिया। फिर क्या था, देवी प्रसाद चटोपाध्याय जैसों ने तो 'लोकायत' के माध्यम से तांत्रिकों और चार्वाक को ही नही सांख्य-दर्शन तक को वैदिक सभ्यता पूर्व का घोषित कर इनको अध्यात्म दर्शन का प्रतिद्वंदी

ही नहीं उससे श्रेष्ठतर भी सिद्ध करने के उद्देश्य से दुनिया भर के कुतर्क गढ़ डाले। उद्देश्य साफ था हिंदू अध्यात्मवाद की श्रेष्ठता और एकात्मकता को बेदखल करना- We are never tired of listening that Spiritualism is an inherent feature of Indian thought, but, 'Ah! Faustus, now hast thou but one bare hour to live!' अर्थात् यह सुन-सुन कर हमारे कान पक गए हैं कि अध्यात्म भारतीय दर्शन का एक मूल लक्षण है, परंतु अरे ओ (भारतीय अध्यात्मनामी) फास्टस! तेरे जीवन का मात्र एक घंटे का समय शेष बचा है। पाठकों की सुविधा के लिए स्मरण दिलाते चलें कि क्रिस्टोफर मारलोव नामक अंग्रेजी भाषा के नाट्य लेखक के1604 ई. में प्रकाशित 'डॉ. फास्टस' नामक नाटक का मुख्यपात्र फास्टस जादू-टोने के धंधे में संलग्न होने के कारण अंततः अत्यंत दयनीय अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होकर नरकगामी होता है।

मानवता की पहचान है धर्म अर्थात् जीवन मूल्य और धर्म की आत्मा है अध्यात्म। मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी थी, उसके भारतीय चेलों ने एक कदम आगे बढ़कर अध्यात्म को ही जादू-टोना घोषित कर डाला।

न मार्क्स धर्म के मर्म को समझ पाया, न उसके चेले अध्यात्म के अभिप्राय को। आश्चर्य नहीं, साम्यवाद आधा-अधूरा और काल बाह्य विचार होने के कारण जग में हँसी का पात्र बन कर रह गया है और भारत में तो परजीवी लता की तरह अधर में लटक रहा है। बजाय अपनी गलतियों में सुधार करने के दाँत किट-किटाकर, मुट्ठी तानकर, विक्षिप्तों की तरह लाल-सलाम, लाल-सलाम, चिल्लाने और हिंदुत्व को गाली देने में ही धन्यता का अनुभव करता फिर रहा है।

उधर चर्च-आधारित पोप का मठ कहने को तो बरकरार है, परंतु किसी समय राज्जसत्ताओं को उँगलियों पर नचाने वाला यह उपकरण आज अपनी करतूतों से खस्ताहाल है। लगभग 44 वर्ग मील के भूभाग, 900 की जनसंख्या और रोमन, इटेलियन, अंग्रेजी, फ्रेंच भाषाभाषी तथा 40-50 करोड़ अमेरिकी डॉलर के भारी-भरकम घोषित बजट (अघोषित तो शायद ईश्वर ही जानता है) के बलबूते चलने वाला सर्वसत्ता सम्पन्न यह वैटिकन साम्राज्य अपनी सीमा के बाहर निवास करने वाले 3500 के लगभग सेवादारों और लाखों पादरियों की सांप्रदायिक सेना और अकल्पनीय धन-संपदा के सहारे दुनिया भर में, भारतीय उपमहाद्वीप में विशेषकर-निर्धनों, अशिक्षितों, बीमारों, दलितों, पीड़ितों की सेवा के नाम पर धोखे और छल-फरेब से धर्मांतरण के अनैतिक-कर्म में संलग्न है, जिसके कारण पोप का धर्मिक पद ही नहीं चर्च का नैतिक बल भी नुकीले

मार्क्स धर्म के मर्म को समझ पाया, न उसके चेले अध्यात्म के अभिप्राय को। आश्चर्य नहीं, साम्यवाद आधा-अधूरा और काल बाह्य विचार होने के कारण जग में हँसी का पात्र बन कर रह गया है और भारत में तो परजीवी लता की तरह अधर में लटक रहा है। बजाय अपनी गलतियों में सुधार करने के दाँत किट-किटाकर, मुट्ठी तानकर, विक्षिप्तों की तरह लाल-सलाम, लाल-सलाम, चिल्लाने और हिंदुत्व को गाली देने में ही धन्यता का अनुभव करता फिर रहा है।

प्रश्न चिह्नों के घेरे में हैं। आध्यात्मिक शक्ति के क्षय होने से पूरे के पूरे तंत्र को गहन निराशा तथा तज्जनित-खीझ और चिड़चिड़ाहट ने अपनी चपेट में ले लिया है। दूसरी ओर नित-नवीन वैज्ञानिक खोजों के प्रकाश में चर्च की अवैज्ञानिक मान्यताएँ, जैसे सृष्टि का प्रारंभ ईसा से ठीक 4004 वर्ष पूर्व 23 अक्तूबर को प्रातः9.00 बजे हुआ था, जिसके चलते न जाने कितने सत्यवादी सुकरातों और गेलिलियों को विष देकर, सूली पर चढ़ा कर अथवा यातनाएँ दे- देकर रास्ते से हटा दिया गया, चरमराकर चीत्कार कर उठीं और उसके अधिसंख्य अनुगामी निराश और हताश हो चर्च से विमुख हो या तो नास्तिक हो गए या वेदांत-दर्शन की वैज्ञानिक विचारधारा की ओर आकर्षित होने लगे। चर्च की चिंता का एक अन्य प्रमुख कारण इसके अनुगामियों में बड़ी तीव्र गति से पैर पसार रहा चारित्रिक पतन है। यूँ तो ग्रीको-रोमन सभ्यता जिसे पश्चिमी जगत् अपनी जननी मानता है और जिस पर गर्व भी करता है, अपने मूल-स्वभाव में माँसल सौंदर्योपासक और भोगवादी है। चर्च की गरिमा को पवित्र-पात्र (Holi Grail)की खोज के नाम पर तथा कौमार्य-कवच (Chastity Belt) जैसी हेय प्रथाओं के कारण भी कम ठेस नहीं लगी है। डॉन ब्राउन (Dan Brown) लिखित और 2003 में प्रकाशित उपन्यास 'द दा विन्ची कोड' (The Da

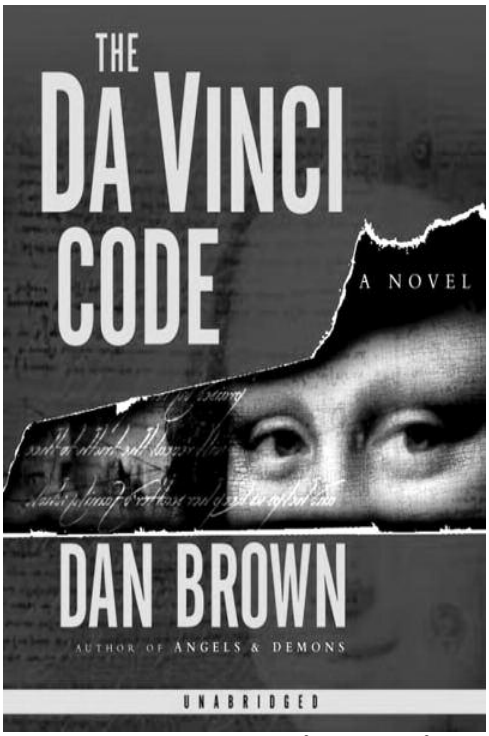

Vincy Code) तथा 2006 में इसी नाम से बनी फिल्म की अतुलनीय सफलता के कारण यह कुत्सित प्रकरण जन-सामान्य तक को ज्ञात हो गया। इससे भी चर्च और उसके अनुगामियों में प्रतिशोध व आक्रामक प्रवृत्ति द्विगुणित होकर सामने आई है।

अभी हाल ही में सितंबर 23, 2015 के वर्ल्ड न्यूज-रॉयटर (World News- Reuter) के अनुसार स्वयं पोप फ्रांसिस को ईसाई पादरियों को हिदायत देनी पड़ी कि अबोध बालकों के यौन-शोषण से

नित-नवीन वैज्ञानिक खोजों के प्रकाश में चर्च की अवैज्ञानिक मान्यताएँ, जैसे सृष्टि का प्रारंभ ईसा से ठीक 4004 वर्ष पूर्व 23 अक्तूबर को प्रातः 9 बजे हुआ था, जिसके चलते न जाने कितने सत्यवादी सुकरातों और गेलिलियों को विष देकर, सूली पर चढ़ा कर अथवा यातनाएँ दे- देकर रास्ते से हटा दिया गया, चरमराकर चीत्कार कर उठीं और उसके अधिसंख्य अनुगामी निराश और हताश हो चर्च से विमुख हो या तो नास्तिक हो गए या वेदांत-दर्शन की वैज्ञानिक विचारधारा की ओर आकर्षित होने लगे।

बाज आएँ। अकेले अमेरिकी कैथोलिक चर्च को ही यौनाचार के बाल-पीड़ितों को क्षतिपूर्ति हेतु प्रतिवर्ष लगभग 15 करोड़ डॉलर खर्च करने पड़ रहे रहे हैं। स्वयं भारत में चर्च में व्याप्त इस रोग की भयावहता को जानने के लिए 2009 में प्रकाशित केरल की सिस्टर जैस्में द्वारा लिखित पुस्तक 'अन-होली सीक्रेट्सः ए नन्स ऑटोबायोग्राफी' (Unholy Secrets: A Nuns Autobiography) पढ़नी होगी।

संयुक्त राष्ट्र तक ने वेटिकन पर यौन-अपराध के दोषियों को बचाने की नीति पर चलने का आरोप लगाया है। सब जानते हैं कि हीन भावना और अपराध बोध प्रायः प्रतिक्रिया स्वरूप अधिकाधिक उग्र और आक्रामक रूप धारण कर प्रकट होते हैं। व्हिट्जल और वेंडी डोनीजरों जैसे हिंदू-विद्वेषी यही तो कर रहे हैं। वैदिक महिला विदुषियों (लोपा, मुद्रा, अपाला आदि) के पहले 'तथाकथित' प्रश्नचिह्न लगाकर व्हिट्जल और हिंदू देवी-देवताओं की प्रतीकात्मकता में यौन-चिह्नों को आरोपित कर डोनीजर निम्नतर स्तर की सांप्रदायिकता नहीं तो और क्या कर रहे हैं!

अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे इन तीनों अधिनायकवादी एवं एकांगी दर्शनों के हिंदू-विद्वेषी उन सम-सामयिक कारणों को समझना अभी भी शेष है जिनके चलते ये हिंदुत्व को एक तरफा अपना शत्रु क्रमांक-1 समझ बैठे हैं और उसे मिटाने के लिए किसी भी हद तक जाने के उतावलेपन में न केवल चोर-चोर मौसेरे भाई की तर्ज पर एक जुट हो गए हैं, अपितु तथ्यों और सत्य को तोड़ने-मरोड़ने से भी नहीं हिचकिचा रहे हैं। उनकी दिनों-दिन बढ़ती आक्रामक भंगिमा के कुछ सम-सामयिक कारण निम्न हैं-

अब इतिहास के प्रायः सभी निष्पक्ष विद्यार्थी यह स्वीकार करने लगे हैं कि 'आर्यों का भारत पर ईसा से1500 वर्ष पूर्व आक्रमण' एक मनगढ़ंत सोद्देश्य कहानी थी, जिसके पीछे मोटे तौर पर तीन ओछे स्वार्थ छिपे थे--

1. अंग्रेजी साम्राज्यवाद को नैतिक बल प्रदान करना क्योंकि कहा गया कि भारत का मूल निवासी कोई नहीं है, सभी बाहर से आए आक्रमणकारी हैं।

2. आर्य और द्रविड़ की काल्पनिक संरचना खड़ी कर भारतीय समाज को विभाजित करना और मौज से राज करना।

3. भारतीय इतिहास की काल गणना कम निर्धारित कर उसे ग्रीस और रोम की सभ्यता से बाद की सिद्ध करना और 4004 वर्ष वाली ईसाई धारणा को पुष्ट करना।

अन्य अनेक विद्वानों की तरह ही योगिराज श्री अरविंद ने 'भारतीय संस्कृति के आधार' और डॉ. भीमराव अंबेडकर ने 'अनटचेबल्सः हू वर दे'

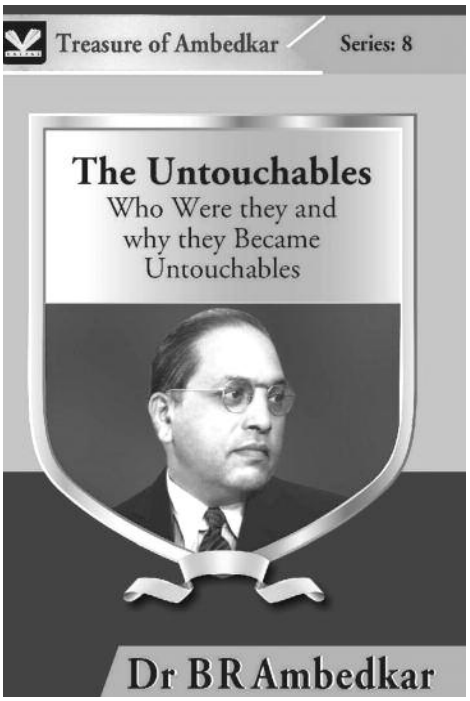

मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों की खोज ने तो हिंदू-द्रोहियों के इरादों पर पानी फेर दिया है। रही-सही कसर, लुप्त सरस्वती नदी की, धीमी परंतु निर्णायक होती जा रही खोज के परिणाम स्वरूप वैदिक सभ्यता और संस्कृति के दुनिया की प्राचीनतम सिद्ध होने की दशा में, इनके द्वारा फुलाए गए अनेक गल्प-गुब्बारे फूट जाने के कगार पर आ जाने से, पूरी हो रही है।

(Untouchables: who were they) पुस्तकों में आर्य-आक्रमण वाले विचार को पूरी तरह आधारहीन सिद्ध किया है।

मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा सभ्यता केअवशेषों की खोज ने तो हिंदू-द्रोहियों के इरादों पर पानी फेर दिया है।

रही-सही कसर, लुप्त सरस्वती नदी की, धीमी परंतु निर्णायक होती जा रही खोज के परिणाम स्वरूप वैदिक सभ्यता और संस्कृति के दुनिया की प्राचीनतम सिद्ध होने की दशा में, इनके द्वारा फुलाए गए अनेक गल्प-गुब्बारे फूट जाने के कगार पर आ जाने से, पूरी हो रही है। भूगर्भ विज्ञान की नवीनतम खोजें अब इस निष्कर्ष पर पहुँच रही हैं कि ईसा पूर्व 2500-3000 वर्ष के कालखंड में पश्चिमोत्तर भारत सहित विशाल पश्चिम एशियाई तथा उत्तर-पूर्वी यूरोपीय क्षेत्र में बड़े पैमाने पर भूगर्भीय उथल-पुथल हुई थी, जिसके कारण सरस्वती नदी के उद्गम स्थल शिवालिक ही नहीं, हिमालय के अन्य हिम-स्रोतों के जल भंडारों में या तो कमी हुई, या फिर उनके प्रवाह में दिशांतर हुआ। परिणाम स्वरूप विशाल-पाट वाली सरस्वती नदी धीरे-धीरे सूखती चली गई और इसी के साथ काल-कवलित होती चली गई नदी के दोनों ओर के विस्तृत क्षेत्र में फल-फूल रही हड़प्पा की नागर-सभ्यता। अकेले मोहनजोदड़ो नगर की जनसंख्या 40,000 से 50,000 आँकी गई है, जिसकी जल पूर्ति हेतु 600-700 कुँए थे। डॉ.बी.बी.लाल तथा माइकल डेनिनो का इस संबंध में किया गया कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

वेदों में सरस्वती नदी बहुत विशाल पाट वाली वर्णित की गई है, जिसके खादर की चौड़ाई 15-20 किलोमीटर तक फैली थी, जिसके कारण वह जीवनदायिनी ही नहीं प्रेरणा-प्रतीक भी थी। ऋग्वेद में जहाँ गंगा की चर्चा केवल एक-दो बार हुई है, वहीं सरस्वती की कम से कम 60 बार। सातवें मंडल के 95वें सूक्त के दूसरे मंत्र में वशिष्ठ ने सरस्वती को नदियों में पवित्रतम जो पर्वत शिखरों से समुद्र तक बहती है, कहकर वर्णित किया है। छठे मंडल के 61वें सूक्त के दूसरे मंत्र में भारद्वाज सरस्वती के प्रबल-प्रवाह से विशालकाय शिलाओं को कमलनाल की तरह तहस-नहस होते बता रहे हैं, जबकि दूसरे मंडल के 41वें सूक्त के सोलहवें मंत्र में गृत्समद ने सरस्वती की महत्ता को निम्नलिखित विशेषणों से रेखांकित किया है-

अम्बीतमे, नदी तमे, देवी तमे सरस्वती।

अभी 1982 में श्री अरविंद के विद्वान शिष्य के.डी. सेठना उपाख्य अमल किरण ने 'कर्पसा इन वैदिक इंडिया' (Karpasa in Vedic India) आलेख

के माध्यम से एक चौकाने वाले तथ्य का उद्घाटन किया है–उनका निष्कर्ष है कि हड़प्पा सभ्यता में कपास के उपयोग के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, जबकि ऋग्वेद में कपास का उल्लेख तक नहीं है, जो सिद्ध करता है कि वैदिक सभ्यता मोहनजोदड़ों और हड़प्पा पूर्व की है। वैसे भी वेदों में यज्ञ-वेदियों की रचना के लिए ज्योमितीय सिद्धांतों की चर्चा है। हड़प्पा नगर रचना ही नहीं, वहाँ की सड़कों, स्नानागारों, अन्न भंडारों, भवनों आदि में उन सिद्धांतों का अनुपालन चकित करने वाला ही नहीं, निर्णायक प्रमाण प्रतीत होता है कि हड़प्पा सभ्यता, वैदिक सभ्यता की संतति है, सातत्य है। इससे भी आर्य-द्रविड़ संघर्ष जैसी बेतुकी धारणाएँ ध्वस्त होती हैं।

स्वामी विवेकानंद और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का तो नाम सुनते ही इन हिंदू-द्वेषियों को कंपन हो उठता है और इनका मानसिक संतुलन डगमगा जाता है। यूँ तो नव-जागरण भारतीय इतिहास की एक अविरल प्रक्रिया और पहचान है, जिसके कारण हिंदू-विचार चिर पुरातन, नित-नूतन और इस कारण शुद्ध सनातन बना रहता है। गंगा जल की तरह निर्मल और सदानीरा यह हिंदू धारा कभी सड़ती नहीं, काल-बाह्य होती नहीं। वैदिक महर्षियों से प्रारंभ हो, महापुरुषों की एक ऐसी अटूट मणिमाला है जो विश्व की अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों में उपलब्ध नहीं है। यूनान, मिस्र, रोम की सभ्यताओं का अब कोई नाम लेवा तक नहीं है, जबकि सनातन भारतीय संस्कृति और सभ्यता आज भी न केवल जीवंत है अपितु उर्ध्वगामी है।

भारत में यूँ तो सुधारकों/महापुरुषों की एक पूरी मणिमाला हर काल और क्षेत्र में दिखाई देती है, परंतु जिस सर्वंकश रूप में स्वामी विवेकानंद ने हिंदुत्व को युगानुकूल रूप में शिकागो (अमेरिका) में 11 सितंबर,1893 को आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर प्रस्तुत किया, उसके तुरंत बाद से तो ईसाई मिशनरियों और थियोसोफीकल सोसायटी के सांप्रदायिक उन्मादियों ने स्वामी विवेकानंद पर व्यक्तिगत तथा हिंदुत्व-दर्शन पर समग्र रूप में ओछे से ओछे आरोपों की झड़ी लगा दी। आधुनिक काल में उन्हें वामपंथियों और छद्म-धर्मनिरपेक्षतावादियों का समर्थन भी खुले रूप में मिलने लगा है। तो भी इनकी दाल नहीं गल पा रही है। हताशा में गाली-गलौज पर उतर आए हैं।

राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के रूप में विश्व के सबलतम संगठन ने तो इनकी रात की नींद और दिन का चैन ही गायब कर दिया है। सन् 2015 के आँकड़ें बताते हैं कि 54 हजार से अधिक ग्रामों, कस्बों और नगरों में संघ की लाखों शाखाएँ प्रतिदिन लगती हैं। संघ-प्रेरित डेढ़ लाख से अधिक सेवा

हड़प्पा सभ्यता में कपास के उपयोग के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, जबकि ऋग्वेद में कपास का उल्लेख तक नहीं है, जो सिद्ध करता है कि वैदिक सभ्यता मोहनजोदड़ों और हड़प्पा पूर्व की है। वैसे भी वेदों में यज्ञ-वेदियों की रचना के लिए ज्योमितीय सिद्धांतों की चर्चा है। हड़प्पा नगर रचना ही नहीं, वहाँ की सड़कों, स्नानागारों, अन्न भंडार, भवन आदि में उन सिद्धांतों का अनुपालन चकित करने वाला ही नहीं, निर्णायक प्रमाण प्रतीत होता है कि हड़प्पा सभ्यता, वैदिक सभ्यता की संतति है, सातत्य है। इससे भी आर्य-द्रविड़ संघर्ष जैसी बेतुकी धारणाएँ ध्वस्त होती हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 54 हजार से अधिक ग्रामों, कस्बों और नगरों में संघ की लाखों शाखाएँ प्रतिदिन लगती हैं। संघ-प्रेरित डेढ़ लाख से अधिक सेवा प्रकल्प देश के कोने-कोने में जन सेवा के कार्य में जाति, पंथ, प्रदेश आदि के भेदभाव को भुलाकर सक्रिय हैं। संघ से संबंधित भारतीय मजदूर संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, विश्व हिंदू परिषद्, विद्या भारती, वनवासी कल्याण आश्रम, विवेकानंद केंद्र समान दो दर्जन से अधिक जीवंत संगठन उस-उस क्षेत्र के सबलतम संगठन के रूप में अपनी प्रभावी भूमिका निबाह रहे हैं।

प्रकल्प देश के कोने-कोने में जन सेवा के कार्य में जाति, पंथ, प्रदेश आदि के भेदभाव को भुलाकर सक्रिय हैं। संघ से संबंधित भारतीय मजदूर संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, विश्व हिंदू परिषद्, विद्या भारती, वनवासी कल्याण आश्रम, विवेकानंद केंद्र समान दो दर्जन के लगभग जीवंत संगठन उस-उस क्षेत्र के सबलतम संगठन के रूप में अपनी प्रभावी भूमिका निबाह रहे हैं। इतना ही नहीं विश्व के 40 से अधिक देशों में हिंदू स्वयंसवेक संघ के नाम से संघ की प्रत्यक्ष शाखाएँ लगती हैं और अन्य अनेक देशों में रह रहे भारतीय, परिवार मिलन आदि के माध्यम से संघ से संपर्कित हैं।

दस हजार के लगभग प्रचारक और पूर्णकालिक कार्यकर्ता अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर संघ के विचार को जन-जन तक पहुँचाने में दिन-रात एक कर रहे हैं। इनमें शायद ही कोई स्नातक से कम पढ़ा-लिखा है तथा बहुत बड़ी संख्या में स्नातकोत्तर, इंजीनियर, डॉक्टर, चार्टर्ड एकाउंटेंट, आर्किटेक्ट, पीएच.डी.आदि उपाधिधारी हैं। सादगी, शुचिता, समर्पण भाव, निरहंकारिता, मितव्ययिता, निःस्वार्थपरता आदि गुणों से सज्जित राष्ट्र भक्तों की यही वह शक्ति है जो मात्र 10 वर्ष बाद शताब्दी पूर्ण करने जा रहे संघ को अजेयता प्रदान करती है। चार-चार प्रतिबंधों को झेलने और सब प्रकार की अन्य बाधाओं को मात देने का बल और साहस प्रदान करती है और हिंदू द्वेषी तत्त्वों में डाह पैदा करती है। असल में संघ रहते उनके हिंदू समाज को विभाजित करने, भारत की अखंडता को छिन्न-विच्छिन्न करने के इरादे सफल नहीं हो पा रहे हैं। सनातन सांस्कृतिक हिंदू राष्ट्रवाद के वैचारिक अधिष्ठान को लाख-लाख षड्यंत्र भी डिगा नहीं पा रहे हैं। भारत के दीनहीन, निरीह और लिजलिजे स्वरूप के स्थान पर सबल, सफल, संपन्न, सुसंगठित, गौरवशाली भारत-राष्ट्र इन तत्त्वों को कभी भी काम्य तो रहा ही नहीं है, श्लाघ्य भी नहीं है। अन्य कुछ न कर पाने की स्थिति में जहर घोलने का कर्म तो कर ही सकते हैं। अतः वैकल्पिक इतिहास लिखते रहते हैं। योग और आयुर्वेद तक की वैश्विक धरातल पर बढ़ती स्वीकार्यता से इनको चिढ़ लगती है।

ऐसी स्थिति में मेरे जैसे अनेक देशवासियों की यह अपेक्षा होना स्वाभाविक है कि काश नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री डॉ.अमर्त्यसेन जैसे विचारक, इतिहास के इस निर्णायक दौर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समान राष्ट्रवादी शक्तियों और श्री नरेंद्र मोदी के प्रति अपने पूर्वाग्रहों को तिलांजलि देकर स्वयं को अर्वाचीन राष्ट्र-ऋषि के रूप में प्रस्तुत कर भारत द्रोही शक्तियों को सटीक उत्तर देते। तब उन्हें जीन-ड्रेज के सह-लेखक के रूप में 'एन अन्सर्टेन ग्लोरी-इंडिया एंड इट्स कंट्राडिक्शंस' (An uncertain Glory-India

मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं है कि सेन समान विद्वान पाश्चात्य-दर्शन प्रेरित हिंसक और संकुचित राष्ट्रवाद तथा उदार और मानवतावादी भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अंतर और इनमें कौन वर्जित एवं कौन अर्जित करने योग्य है, को जानते-पहचानते नहीं हैं। पहले ने मुसोलिनी, हिटलर और स्टालिन पैदा कर दो-दो विश्व युद्धों की विभीषिका दी है, जबकि दूसरे ने दयानंद, विवेकानंद, अरविंद, गांधी, भगत सिंह, अंबेडकर, हेडगेवार दिए हैं, जिन्होंने एक मानवतावादी, चिन्मय, विश्व-वंद्य भारत-राष्ट्र को एक बार पुनः साकार करने का स्वप्न दिया है, जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाने का दायित्व प्रत्येक भारतीय का बनता है।

and Its Contradictions) पुस्तक के स्थान पर 'इंडिया-ए सर्टेन ग्लोरी' (India-A Certain Glory) जैसी कोई पुस्तक लिखना अधिक सार्थक लगता। मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं है कि सेन समान विद्वान पाश्चात्य-दर्शन प्रेरित हिंसक और संकुचित राष्ट्रवाद तथा उदार और मानवतावादी भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अंतर और इनमें कौन वर्जित एवं कौन अर्जित करने योग्य है, को जानते-पहचानते नहीं हैं। पहले ने मुसोलिनी, हिटलर और स्टालिन पैदा कर दो-दो विश्व युद्धों की विभीषिका दी है, जबकि दूसरे ने दयानंद, विवेकानंद, अरविंद, गांधी, भगत सिंह, अंबेडकर, हेडगेवार दिए हैं, जिन्होंने एक मानवतावादी, चिन्मय, विश्व-वंद्य भारत-राष्ट्र को एक बार पुनः साकार करने का स्वप्न दिया है, जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाने का दायित्व प्रत्येक भारतीय का बनता है।

काश! औरंगजेब के स्थान पर दाराशिकोह मुगल सल्तनत के वारिस होते, वहाबी कट्टरपन और जिन्नापन के स्थान पर रहीम, रसखान, अजीमुल्ला खाँ, अशफाक उल्ला खाँ, सीमांत गांधी बादशाह खाँ, नजरुल इस्लाम, आगा खाँ, न्यायविद् मौ. करीम छागला और एपीजे अब्दुल कलाम आदि की विचारधारा बलवती हुई होती तो आज भारत का इतिहास ही कुछ भिन्न होता। गोपालन, नंबूदरीपाद, रणादिवे आदि के स्थान पर अमृत श्रीपाद डांगे, रामविलास शर्मा आदि की सुनी गई होती तो देश को माओवाद और नक्सलवाद का हिंसक तांडव न झेलना पड़ता। चर्च ने ओछे हथकंडे अपना कर, धर्मांतरण द्वारा, विशेषकर-पूर्वोत्तर-भारत में, ईसाई बहुल स्वतंत्र राज्य के स्वप्न न संजोए होते, तो स्वतंत्रता के 70 वर्ष बाद भी भारत को राष्ट्रद्रोही तत्त्वों से जूझने की आवश्यकता न पड़ी होती। हिंदुत्व के विरुद्ध घृणा की यह बाढ़ इतना भयावह रूप न धारण कर पाती।

खैर! हिंदुत्व का जादू ही ऐसा है कि सिर चढ़कर बोलता है। अंग्रेजी भाषा के महान् लेखक, कवि, विचारक और नोबेल पुरस्कार विजेता टी.एस. इलियट को कौन नहीं जानता। निष्ठावान ईसाई मतावलंबी थे। विश्वयुद्ध की विभीषिका के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपनी श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक 'द वेस्ट लैंड' (The Waste -Land) नामक लंबी साहित्यिक काव्यकृति, भयाक्रांत पश्चिमी संसार को दर्पण दिखाने के साथ-साथ दिशा-दर्शन के उद्देश्य से भी लिखी थी। इसमें उन्होंने जन्म, मृत्यु, हिंसा, स्वार्थ, माया, काम, क्रोध, पुण्य कर्म, करुणा आदि अभिधानों की ओर इंगित किया है तथा हिंदू प्रतीकों की सहायता से संसार और सांसारिक उपलब्धियों की निस्सारता के साथ-साथ चराचर के बीच दृश्यमान विभेद के पीछे अदृश्य एकात्मता का अतीव सुंदर और कालजयी साहित्यिक संवाद श्रेष्ठ हिंदू दार्शनिक शैली में प्रस्तुत किया है, जिसकी भाव भंगिमा कई स्थलों पर अनायास ही औपनिषदिक ऊँचाइयों को स्पर्श कर गई है।

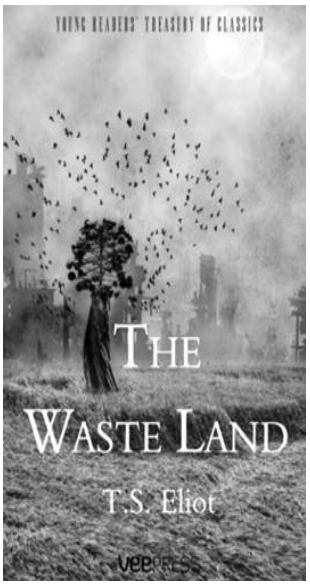

अंग्रेजी के महान् लेखक, कवि, विचारक और नोबेल पुरस्कार विजेता टी.एस. इलियट निष्ठावान ईसाई मतावलंबी थे। विश्वयुद्ध की विभीषिका के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपनी श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक 'द वेस्ट लैंड' नामक लंबी साहित्यिक काव्यकृति, भयाक्रांत पश्चिमी संसार को दर्पण दिखाने के साथ-साथ दिशा-दर्शन के उद्देश्य से भी लिखी थी। इसमें उन्होंने जन्म, मृत्यु, हिंसा, स्वार्थ, माया, काम, क्रोध, पुण्य कर्म, करुणा आदि अभिधानों की ओर इंगित किया है तथा हिंदू प्रतीकों की सहायता से संसार और सांसारिक उपलब्धियों की निस्सारता के साथ-साथ चराचर के बीच दृश्यमान विभेद के पीछे अदृश्य एकात्मता का अतीव सुंदर और कालजयी साहित्यिक संवाद श्रेष्ठ हिंदू दार्शनिक शैली में प्रस्तुत किया है, जिसकी भाव भंगिमा कई स्थलों पर अनायास ही औपनिषदिक ऊँचाइयों को स्पर्श कर गई है।

'द वेस्ट लैंड' (The Waste -Land) का पाँचवा सर्ग तो शब्दशः 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के पंचम अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण का आधुनिक संदर्भ के अनुरूप अत्यंत प्रभावी प्रस्तुतीकरण है। उपनिषद् में प्रजापति के तीनों पुत्र-देव, मनुज और असुर ब्रह्मचर्यवासोपरांत पिता से दीक्षांत उपदेश देने की प्रार्थना करते हैं। प्रजापति तीनों को अलग-अलग अकेले में ले जाकर केवल 'द' अक्षर बोलकर पूछते हैं समझ गये क्या?' तीनों ही अपनी-अपनी वृत्ति और संस्कार के अनुरूप 'द' अक्षर का अर्थ और अभिप्राय ग्रहण करते हैं।

देव ने कहा– 'गुरुदेव! आपने हमसे कहा कि दमन करो, अर्थात् इंद्रिय-निग्रह करो।'

मनुज ने कहा–'गुरुदेव! आपने हमसे कहा कि दान करो अर्थात् त्याग करो।'

असुर ने कहा– 'गुरुदेव! आपने हमसे कहा कि दया करो, अर्थात् दयावान बनो।'

अंत में ऋषि प्रजापति कहते हैं कि मेघ-गर्जना रूपी दैवी-वाक् द-द-द के संघोष के माध्यम से जीव मात्र को सदैव यही संदेश तो देती रहती है कि इंद्रीय दमन करो, दान करो, दया करो।

हिंदू मान्यता है कि काम, लोभ और क्रोध नरक के द्वार हैं। युद्ध इन्ही मनोरोगों की उपज है। इनसे मुक्ति का मार्ग प्रजापति ने मात्र 'द' अक्षर बोल कर बता दिया। टी.एस. इलियट ने इसी भाव को ज्यों का त्यों 'द वेस्ट लैंड' के पांचवें सर्ग में 'व्हाट द थंडर सैड' (What The Thunder Said) शीर्षक के अंतर्गत साक्षात् Damyata (दम्यता) Datta (दत्ता) और Dayadhvam (दयाध्वम्) संस्कृत शब्दों का ही नहीं, मान्यता और मन्तव्य से भी साहित्यिक संप्रेषण कर मानव मात्र के हित में हिंदू दर्शन की श्रेष्ठता को रेखांकित किया है। अपने समकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक बरटेंड-रसेल को लिखे गए एक पत्र में इलियट सहर्ष स्वीकार करते हैं कि 'द वेस्टलैंड' का पंचम सर्ग न केवल सर्वश्रेष्ठ अंश है अपितु इसी के कारण संपूर्ण कृति की सार्थकता है (The Part V is not only The best part, but the part that justifies the whole.)। वैयक्तिक ही नहीं, वैश्विक शांति और कल्याण का

इससे बेहतर और कारगर मार्ग कोई अन्य हो सकता है क्या? और यह हिंदू विचार है, भारतीय विचार है जो हमारे ऋषि-मुनियों के मनन, चिंतन और अनुभव से निसृत नवनीत है।

भारतीय संस्कृति के इसी विश्व-कल्याणकारी स्वरूप के संरक्षण के लिए 'इज इंडिया सिविलाइज्ड' (Is India Civilized) में जॉन-उड्रोफ ने, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर आए हैं, चेतावनी के तौर पर लिखा है कि आज मानव जगत् में उथल-पुथल के बवंडर के परिणाम स्वरूप परिवर्तन की जो अति प्रचंड आँधी गहराती आ रही है, उसमें सम्भवतः प्राचीन भारत की संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी; कारण, एक ओर तो इस पर यूरोपीय आधुनिकवाद के आक्रमण हो रहे हैं तथा यह भौतिकवाद से अभिभूत हो रही है और दूसरी ओर भारत की संतति भी इस विषय में उदासीन रहकर इसके साथ विश्वासघात कर रही है। ऐसी दशा में यह आशंका है कि शायद यह सदा-सर्वदा के लिए मटियामेट हो जाए और इसके साथ ही इसको संजोकर रखने वाली राष्ट्र की आत्मा भी। अतः हम सबका यह नैसर्गिक उत्तरदायित्त्व है कि हम इस पवित्र धरोहर की ठीक-ठीक कद्र करें और इस पर आते हुए संकट को देखें तथा इस अग्नि-परीक्षा की घड़ी में दृढ और निष्ठावान बने रहें।

पश्चिम के ही नहीं स्वयं भारत के भी कुछ लेखकों, पत्रकारों और राजनीतिज्ञों के उद्‌गार, भारत के विरुद्ध लिखी जा रही नित-नवीन पुस्तकों और लेखों आदि तथा पाश्चात्य देशों की जनता में इनके कारण फैलते भ्रमजाल और भारतीय समाज के अंदर पसरती जा रही हीन भावना इस संकट की यथार्थता के सूचक हैं, जिसके सम्यक् आकलन और निदान के लिए योगिराज अरविंद महर्षि कृत 'द फाउंडेशंस ऑफ इंडियन कल्चर' (The Foundations of Indian Culture) ग्रंथ का निम्नलिखित उद्धरण मुझे सर्वाधिक सटीक और कारगर नजर आता है– केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि से अपने उपास्य देव का त्याग करने या युक्ति तंत्र, व्यवसाय तंत्र एवं अर्थतंत्र रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं और पश्चिम के सफल लौह देवताओं के आगे घुटने टेकने से अब तक भी इंकार करता आ रहा है। वह उनसे कुछ प्रभावित अवश्य हुआ है, पर अभी तक हारा नहीं है। उसकी गंभीर प्रज्ञा ने नहीं, वरन् उसके स्थूल मन ने ही बाध्य होकर स्वतंत्रता, समानता, प्रजातंत्र आदि

जॉन उड्रोफ

आज मानव जगत् में उथल-पुथल के बवंडर के परिणाम स्वरूप परिवर्तन की जो अति प्रचंड आँधी गहराती आ रही है, उसमें सम्भवतः प्राचीन भारत की संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी; कारण, एक ओर तो इस पर यूरोपीय आधुनिकवाद के आक्रमण हो रहे हैं तथा यह भौतिकवाद से अभिभूत हो रही है और दूसरी ओर भारत की संतति भी इस विषय में उदासीन रहकर इसके साथ विश्वासघात कर रही है। ऐसी दशा में यह आशंका है कि शायद यह सदा-सर्वदा के लिए मटियामेट हो जाए और इसके साथ ही इसको संजोकर रखने वाली राष्ट्र की आत्मा भी।

अनेक पश्चिमी विचारों को स्वीकार किया है तथा अपने वेदांतिक सत्य के साथ उनका समन्वय किया है; परंतु उनके पाश्चात्य रूप से उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ है और अपनी विचारधारा में वह पहले से ही उन्हें एक भारतीय रूप प्रदान करने के लिए यत्नशील है, जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता। अंग्रेजी विचारों एवं संस्कृति का अनुकरण करने की प्रथम बाढ़ समाप्त हो गई है, किंतु एक उससे भी भयानक चीज हाल ही में शुरू हुई है और वह है समान्यतः यूरोपीय महाद्वीप की संस्कृति का और विशेषकर क्रांतिकारी रूस की स्थूल एवं उग्र प्रवृत्ति का अनुकरण करने की बाढ़। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि प्राचीन हिंदू धर्म का उत्तरोत्तर पुनरुत्थान हो रहा है तथा आध्यात्मिक जागृति एवं इसके महत्त्वपूर्ण आंदोलनों का प्रभाव विपुल रूप से फैल रहा है। इस अनिश्चित स्थिति का परिणाम दो में से एक हो सकता है - या तो भारत इतनी पूरी तरह से तर्कवादी एवं व्यवसायवादी बन जाएगा कि वह पहचानने में ही नहीं आएगा और तब वह भारत ही नहीं रहेगा या फिर वह एक नई विश्व-व्यवस्था का नेता बनेगा, अपने दृष्टांत तथा सांस्कृतिक प्रभाव के द्वारा पश्चिम की नई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता हुआ मानव जाति को अध्यात्ममय बनाएगा।

अत्यंत गंभीर और निर्णायक वैचारिक संघर्ष के इस दौर में कुरुक्षेत्र के रणांगन में खड़ा कौंतेय किंकर्तव्य विमूढ़ हो हाराकीरी करने का पाप गंवारा नहीं कर सकता। स्वयमेव-मृगेंद्रता ही उसका स्वधर्म है, युग-धर्म है, हिंदू-धर्म है। यही आइडिया ऑफ इंडिया (Idea of India) भी है, अर्थात् भारत धर्म है।

लेखक चिंतक और वरिष्ठ साहित्यकार हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. ऋग्वेद
2. मनु स्मृति
3. श्रीमद्भागवत-सुधा सागर, गीता प्रेस, गोरखपुर (भारत)
4. वृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (भारत)
5. विश्व में साम्यवादी साम्राज्यवाद का उत्थान एवं पतन-डॉ. सतीश चंद्र मित्तल, मोहित पब्लिकेशन्स, दरियागंज, नई दिल्ली,
6. साम्यवाद का सच- डॉ. सतीश चंद्र मित्तल, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली,
7. The Hindus: An Alternative History - Wendy Doniger, Penguin India.
8. Inside the Texts, Beyond the luck: New Ap proaches to the Study of Vedas. Ed. Michael Witzel, Harvard Oriental Studies.
9. Female Rishis and Philosophers in the Veda? Jour nal of South Asia Women Studies, Volume II, No.1,2009 Asiatica org.
10. Kali's Child- Jeffrey Kripal, University of Chicago Press.
11. Ganesh: Lord of Obstacles, Lord of Beginnings - Paul B. Courtright, Oxford University Presss.
12. Definition of Marxism- Merria Webster.
13. The Children of Abrahim- Judaism, Christianity, Islam- F.E. Peters, Princeton University Press.
14. Star in the East - Roland Verman, Palgrave.
15. Text and Context, Quran and Contemporary Chal lenges - Arif Mohammed Khan, Rupa and company (India).
16. The Wonder That Was India- A.L. Basham, Pica dor India.
17. Foundations Of Indian Culture - Shri Aurobindo Arvind Ashram, Poducherry (India).
18. An Introduction to the Study of Indian History- D.D. Koshambi, Popular Book Depot, Mumbai.
19. Lokayat - Devi Prasad Chattopadhyaya, New age, New Delhi.
20. India Distorted - Dr. Satish Chandra Mittal, M.D. Publications, Delhi (India).
21. Land of the Seven Rivers.- Sanjeev Sanyal, Penguin Books, India.
22. Caliphate-Wikipedia, the Free Enciclopedia, http:/in. Wikipedia. org. wiki-caliphate.
23. Commusnism In India - Bidyut Chakravarti, Ama zon. in.
24. Sarasvati River and the Vedic Civilization- N.S. Rajaram, Aditya Prakashan, New Delhi, India.
25. The Middle East - Bernard Lewis, Phoenix.
26. The Rise and Fall of Communism- Archie Brown.
27. The Waste Land- T.S.Eliot,Horace Liveright (U.S.A.)
28. India, China and Northern Frontiers- Dr. Ram Manohar Lohia.
29. A Beautiful Mind- Sylvia Naser, Simon and Schuster (U.S.A.).

वृद्धावस्था अवश्यम्भावी है। शरीर को निरंतर क्षीण होना है। युवावस्था के बाद धीरे-धीरे जब शरीर का क्षरण होने लगता है तो वही वृद्धावस्था है। आयुर्वेद में इसे जरा कहा है। जरा शब्द की व्युत्पति है 'जीर्यति इति जरा' अर्थात् जब शरीर जीर्ण होने लगता है तो वह जरा या वृद्धावस्था है। यह स्वभाविक अवस्था है। शरीर को क्षीण होना ही है। आयुर्वेद में इसकी आवश्यक देखभाल अन्य अवस्था जैसे बाल्यवस्था या युवावस्था के समान ही है। जरावस्था को भी सुखपूर्वक व्यतीत कर सकें इसके भी उपाय बताए गए हैं। ऐसे ही कुछ उपायों के विषय में बता रही हैं -प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य डॉ. ज्योत्स्ना

डॉ. ज्योत्स्ना

सुखपूर्वक व्यतीत करें वृद्धावस्था

आजकल बदलती जीवन शैली का ऐसा दुष्प्रभाव है कि मनुष्यों में वृद्धावस्था के लक्षण असमय ही प्रकट हो रहे हैं। इसे अकाल जरा (Premature ageing) कहते हैं। आयुर्वेद में ऐसे अकाल जरा के कारणों का भी विस्तृत वर्णन है। अकाल जरा के लिए मानसिक व शारीरिक दोनों ही कारण जिम्मेदार हैं।

शारीरिक कारण

शारीरिक कारण मुख्य रूप से स्रोतो दुष्टि है। इसका अर्थ है कि शरीर के विभिन्न ऊतकों को पोषण पहुँचाने वाले साधन (Channel) का बंद होना या ठीक से काम न करना। इससे धातुओं अर्थात् शरीर के ऊतकों को उचित पोषण नहीं मिलता और उनका क्षरण होने लगता है। उपयुक्त दिनचर्या व ऋतुचर्या का पालन न करने से अर्थात् उपयुक्त भोजन (ऋतु, प्रकृति के अनुसार) निद्रा व व्यायाम आदि पर ध्यान न देने से स्रोतो दुष्टि (उचित प्रकार से कार्य न करना) होता है व शरीर कुपोषित होकर क्षरण को प्राप्त होता है।

मानसिक कारण

विषाद, शोक, लोभ, क्रोध आदि मानसिक भावों के कारण शरीर की सभी स्वाभाविक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं और शरीर जल्दी ही क्षरण को प्राप्त होता है। स्वस्थ व्रत और सद् व्रत (मानसिक सदाचार) का पालन न करने से ही अकाल जरा उत्पन्न होती है।

स्वाभाविक जरा अर्थात् वृद्धावस्था के लक्षण निम्न हैं -

शारीरिक लक्षण

वली (त्वचा में झुर्रियाँ) पालित्य (बाल सफेद

चरक संहिता में रसायनों का वर्णन चिकित्सा स्थान में सबसे पहले है। क्योंकि रसायन का प्रयोग ही स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा का उत्तम उपाय है। इसलिए हर आयु में अपनी आवश्यकतानुसार रसायन सेवन करना चाहिए। रसायन वह है जो वृद्धावस्था व रोगों को दूर रखे अर्थात् वृद्धावस्था में होने वाले शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों को कम करे या देर से होने दे। आचार्य चरक के अनुसार ''रसायन से रस आदि धातुओं की श्रेष्ठता बनी रहती है। जीवन की अवधि बढ़ती है, स्मृति और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। रोग व वृद्धावस्था का नाश होता है।''

होना), शरीर का सूखना, हाथ-पैर, गर्दन आदि का काँपना, शक्ति एवं वीर्य का कम होना, घातु क्षय (शरीर के ऊतकों का क्षरण), अग्निमांदय (पाचन की कमी), ओजक्षय (रोग प्रतिरोधक शक्ति की कमी), दृष्टिमांद्य (दृष्टि कमजोर) होना आदि।

मानसिक लक्षण

एकाग्रता की कमी, एकांत प्रियता (एकांत पसंद आना), स्वभाव में परिवर्तन आना। कई बार अति गांभीर्य (गंभीरता), अवसन्नता (विषाद में रहना), नैराश्य (निराश रहना), निरासक्ति आदि हैं।

स्वास्थ्य रक्षा के उपाय

वृद्धावस्था अवश्यंभावी है, किंतु आयुर्वेद में इस अवस्था को अच्छी प्रकार से लिया जा सके तो इसके उपाय के रूप में रसायनों का वर्णन है।

'चरक संहिता' में रसायनों का वर्णन चिकित्सा स्थान में सबसे पहले है। क्योंकि रसायन का प्रयोग ही स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा का उत्तम उपाय है। इसलिए हर आयु में अपनी आवश्यकतानुसार रसायन सेवन करना चाहिए।

रसायन वह है जो वृद्धावस्था व रोगों को दूर रखे अर्थात् वृद्धावस्था में होने वाले शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों को कम करे या देर से होने दे। आचार्य चरक के अनुसार ''रसायन से रस आदि धातुओं की श्रेष्ठता बनी रहती है। जीवन की अवधि बढ़ती है, स्मृति और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। रोग व वृद्धावस्था का नाश होता है।''

आज की तनावपूर्ण जीवनचर्या में यह और भी आवश्यक हो गया है कि रसायन का सेवन किया जाए और न सिर्फ शारीरिक अवस्था के लिए बल्कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी आचार रसायन (सद्व्रत) का पालन आवश्यक है।

विभिन्न आयु वर्गों के लिए निम्न रसायन कहे गए हैं-

आयु	रसायन का नाम
0-10	वचा, स्वर्ण
11-20	अश्वगंधा, बला
21-30	आँवला, लौंग
31-40	शंख पुष्पी, ज्योतिषमती
41-50	भृंगराज, तुवरक
51-60	सप्तामृत लौह, प्रक्षुष्य
61-70	कौंच, अश्वगंधा
71-80	आँवला, बला
81-90	ब्राह्मी
91-100	बला

पुष्टिकारक रसायन

सामान्य रूप से विभिन्न घातुओं (शरीर के

कारक द्रव्यों) की पुष्टि और वृद्धि के लिए नियमित प्रयोग करने योग्य रसायन निम्न हैं–

- रस धातु को बढ़ाने वाले रसायन– खजूर, मुनक्का, अंगूर।
- रक्त धातु को बढ़ाने वाले रसायन–आंवला, भृंगराज, पलांडू, लौह।
- मांस धातु को बढ़ाने वाले रसायन– बला, नागबला, अश्वगंधा।
- मेद धातु को बढ़ाने वाले रसायन–गुग्गुल, शिलाजीत, अमृता (गिलोय), हरड़।
- अस्थि धातु को बढ़ाने वाले रसायन – लाक्षा, शुक्ति (सीप), शंख।
- मज्जा धातु को बढ़ाने वाले रसायन – वासा, लौह
- शुक्र धातु को बढ़ाने वाले रसायन – आत्मगुफा, शतावरी, मूसली।

रसायन का सेवन करने से मनुष्य दीर्घायु, स्मरण शक्ति, मेधा, आरोग्य, तरुणावस्था, प्रभा (शरीर की काँति), वर्ण, स्वरौदार्य, देह व इंद्रियों के उत्तम बल की प्राप्ति, वाक् सिद्धि, काँति आदि गुणों को प्राप्त करता है।

वृद्धावस्था में स्वस्थ्य रहने के लिए कुछ सामान्य रसायन प्रयोग :

गिलोय स्वरस : गिलोय रस का प्रयोग रोगों से बचाता है एवं वृद्धावस्था को दूर रखता है। **खदिर (कत्था) स्वरस** : कत्था को दूध के साथ लेने से यह वृद्धावस्था को दूर रखता है।

मंडूक पर्णी (ब्राह्मी रस) : यह रोगों से बचाता है, पुनर्ऊर्जा देता है और वृद्धावस्था को दूर रखता है।

नाग बला : जड़ को दूध व शहद के साथ लेने से दीर्घायु प्राप्त होती है।

पिप्पली चूर्ण : तीन पिप्पली का चूर्ण भोजन से पूर्व शहद के साथ लेने और तीन पिप्पली का चूर्ण भोजन के बाद लेने से दीर्घायु प्राप्त होती है।

शहद के साथ पहले दिन पाँच पिप्पली का चूर्ण, दूसरे दिन सात, तीसरे दिन आठ और चौथे दिन दस, पाँचवें दिन आठ, छठे दिन सात व सातवें दिन पाँच पिप्पली का चूर्ण, एक सप्ताह तक लेने से दीर्घायु प्राप्त होती है। इस प्रयोग को 5-6 माह बाद पुनः दोहरा सकते हैं।

शंख पुष्पी : शंख पुष्पी 5-10 ग्राम पीस कर पानी के साथ लेने से दीर्घायु प्राप्त होती है।

मुलैहठी चूर्ण : मुलैहठी चूर्ण आधा चम्मच दूध के साथ लें।

त्रिफला चूर्ण : त्रिफला चूर्ण दीर्घायु के लिए बहुत उपयोगी है।

- एक हरड़ का चूर्ण भोजन के 3-4 घंटे बाद एक चम्मच शहद व आधा चम्मच घी के मिश्रण के साथ लें (इस बात का ध्यान रखें कि घी और शहद का मिश्रण बराबर मात्रा में न हो)।
- दो बहेड़ा का चूर्ण शहद व घी मिश्रण के साथ भोजन से पहले लें।
- तीन आँवला का चूर्ण भोजन के बाद शहद व घी मिश्रण के साथ लें। एक वर्ष तक यह प्रयोग करने से व्यक्ति दीर्घायु को प्राप्त होता है।
- त्रिफला चूर्ण (हरड़ एक भाग, बहेड़ा दो भाग व आँवला तीन भाग) को पानी में मिलाकर रात में लोहे के बर्तन में रख दें। प्रातः होने पर शहद और पानी के साथ मिलाकर पिएँ। इससे दीर्घायु प्राप्त होती है।

लेखिका अलीगढ़ आयुर्वेद एवं यूनानी कॉलेज, अलीगढ़ में प्रोफेसर हैं।

मनोगत

मान्यवर महोदय,

'मंगल विमर्श' का अप्रैल 2017 अंक आपके हाथों में सौंपते हुए आनंद की अनुभूति हो रही है। हमारे लिए यह संतोष की बात है कि पत्रिका के प्रत्येक अंक के संबंध में आपकी प्रतिक्रियाएँ प्राप्त होती हैं। सुधी पाठकों का प्रत्येक पत्र हमारे लिए मार्ग दर्शक और प्रेरणा स्रोत होता है।

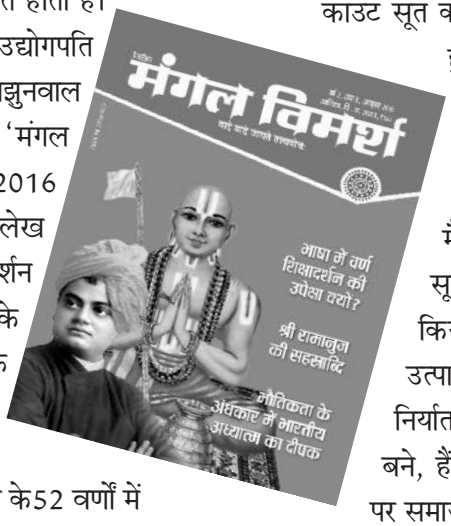

प्रसिद्ध उद्योगपति श्री लक्ष्मी निवास झुनझुनवाल जी ने अपने पत्र में 'मंगल विमर्श' के अक्तूबर-2016 अंक में प्रकाशित लेख 'भाषा में वर्ण शिक्षा दर्शन की उपेक्षा क्यों?' के संबंध में लिखा है कि स्वामी योगानंद की गीता में भी इस विषय पर चर्चा है। देवनागरी के52 वर्णों में प्रत्येक वर्ण की बीस ध्वनियों का सहस्रार से संबंध स्थापित किया है। यह विषय आप ने उठाया है– अनेक साधुवाद।

जुलाई 2016 के अंक में अर्थ व्यवस्था पर डॉ. बजरंगलाल गुप्ता का लेख पढ़ा। यह प्रसन्नता का विषय है कि आप ने यह इस विषय पर सार्थक चर्चा की। देश में शराब का उत्पादन बढ़ता है, सिगरेट-बीड़ी का उत्पादन बढ़ता है, नींद की गोलियों का उत्पादन बढ़ता है तो जी.डी.पी बढ़ गई, पर समाज का पतन हुआ। जी.डी.पी समाज की प्रगति का आधार नहीं हो सकता। पर दूसरा आधार देने की आवश्यकता है। भूटान में मैंने सुना कि ग्रॉस नेशनल हेप्पीनेस को आधार बनाकर चल रहे हैं। इस तरह कई आधार जिनकी गणना की जा सके बनाने होगें।

आपने ढाका के मलमल की चर्चा की, 2500 कांउट सूत की चर्चा की। वस्त्र उद्योग से मैं जुड़ा हुआ हूँ। यदि भारत को सूत वस्त्र निर्यात करना होगा तो वह टेक्नॉलोजी के आधार पर ही हो सकता है। यह आज की मान्यता है। मैंने अपने औद्योगिक जीवन का प्रारंभ सूत उद्योग से किया। जितना ऑटोमेशन किया, मजदूरों की संख्या घटती गयी। उत्पादन की क्वालिटी अच्छी होती गई, निर्यात बढ़ता गया। कॉटेज इंडस्ट्री इंपोरियम बने, हैंडलूम को प्रोत्साहन देने के तंत्र बढ़े, पर समाज पर कोई प्रभाव नहीं दिखा।

1960 में मेरी पहली मिल चालू हुई। सुखाड़ियाजी उद्घाटन उत्सव पर आए। एक साल बीत गया। उस समय मोरारजी भाई के कारण शराब बंदी की चर्चा हो रही थी। सुखाड़ियाजी फिर आए। महिलाओं का एक संगठन उनसे मिलने आया। मैं उनके साथ बैठा था। महिलाओं ने कहा कि शराब की खपत मिल आने के बाद तीन गुनी हो गई है। यह प्रगति हुई है। मानसिक स्वास्थ्य पर ऑटोमेशन का प्रभाव पड़ता है तथा व्यक्ति शराब व ड्रग्स की ओर

प्रेरित होता है। यह विषय अनुसंधान का है।

उद्योग जगत् में दो उदाहरण मेरे सामने हैं। एक जमशेद जी टाटा का उदाहरण है। स्वामी विवेकानंद जी से उनका संबंध हुआ। उन्होंने अंग्रजों के हतोत्साहित करने पर भी 1908 में स्टील प्लांट लगाया। इनकम टैक्स की चोरी न करने का उनका आदर्श संगठन था। उनको विस्तार करने की अनुमति नेहरू जी ने नहीं दी, पर उनके लिए नेहरू जी के मन में आदर था। मुंबई आते तो जो.आर.डी के घर चाय पर आते। चुनावों के खर्च के समय टाटा प्रतिष्ठान में समस्या होती थी। संगठन आदर्श आधारित था, अतः राजनीतिक खर्च आदि के बावजूद टाटा भारत के उत्कृष्ट प्रतिष्ठानों में रहा। पर वैश्विक मापदंड में टाटा कहीं नहीं था। जापान ने व्यक्ति की क्षमता बढ़ाई उनके स्टील प्लांट टाटा के स्टील प्लांट के मुकाबले अत्यंत अच्छे थे। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। पर औसत जापानी आदि के चारित्रिक मूल्य हम से अत्यंत भिन्न थे। गैसा लड़कियों के उपयोग को वे अनुचित नहीं मानते थे।

1945 में मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय में था। गणित में मुझे विश्वविद्यालय में बी.ए में फर्स्ट क्लास फर्स्ट होने के लिए स्वर्ण पदक मिला। 1946 में मैं पोस्ट ग्रेजुएट में सत्येन बोस का विद्यार्थी था। सत्येन बोस व आइंसटाइन शोध करते थे तथा उनके शोध का परिणाम Bosen Theory 1947 में निकला। 50 वर्ष के बाद उसका प्रयोग सफल हुआ है। सत्येन बोस मुझसे अत्यंत स्नेह करते थे, अमेरिका में अनुसंधान के लिए मुझे प्रोत्साहित भी किया पर दुर्भाग्यवश मैं नहीं गया।

मेरा परम सौभाग्य था कि अत्यंत गरीब परिवार में मेरा जन्म हुआ, आठ वर्ष की अवस्था में मैंने अपने बाबाजी को लकवे से मरते देखा,सा उसी समय माँ को यक्ष्मा से मरते देखा। परिस्थितियों ने संघर्ष करना सिखाया।

विश्वविद्यालय के वातावरण से व्यापार के माहौल में आया। इनकम टैक्स उस समय अत्यंत ऊँचा था। आयकर की चोरी को साधारणतया कंपनियाँ बुरा नहीं मानती थी। अतः नफा निकाल कर वह रुपया दो नंबर (जिसे कालाधन) कहा जाता है, वह हो जाता, फिर उद्योग के विस्तार के लिए पुनः एक नंबर करने में ही समय बीत जाता। जब वी.पी. सिंह फाइनेंस मिनिस्टर आए तो उनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ, उनके अत्यंत निकट आ गया। उनको मैंने कहा कि कमाना अन्याय नहीं है, खर्च अनियंत्रित करना अन्याय है।

डॉ.राम मनोहर लोहिया से मैं प्रभावित था। मैंने वी.पी सिंह को समझाया कि इनकम टैक्स की चोरी रोकना कठिन है। खर्च छिपाना कठिन है, आप कैसे मकान में रहते हैं आपका चार साल का बच्चा कैसी गाड़ी में स्कूल जाता है। 1000 महीना देता है या 25000 महीना देता है। घर में कितनी गाड़ियाँ हैं। कितने नौकर-चाकर हैं। छूट्टी में आप यूरोप या अमेरिका जाते हैं या मसूरी, नैनीताल, अटकमंड जाते हैं। इनकम टैक्स की चोरी हमारे खून में आ गई है। उन्होंने अर्थ सचिव विमल जलान को बुलाया तथा खर्च कर की योजना पर विचार करने के लिए कहा। डॉ राम मनोहर लोहिया का दृष्टांत उन्होंने दिया। पर विमल जलान सहमत नहीं हुए। आयकर तथा व्ययकर दोनों साथ लगाना, उन्हें अस्वाभाविक लगा। मैंने कहा-- इतने कमीशन बैठे तथा सबने कहा कि समस्या बढ़ती ही जा रही है। यदि सरकार विमुद्रीकरण जैसा कदम उठा सकती है तो खर्च का हिसाब तो माँगे। इसी का प्रभाव पड़ेगा, भारत में सादगी का आदर्श रहा है। आज असमानता भारत में विश्व के सब देशों से अधिक है। एक लाख गुना असमानता की चर्चा अर्थशास्त्री करते हैं। सादगी का सम्मान नहीं है। भारत में टाई का उपयोग अच्छा नहीं लगता। भारत का

जनमानस तामसिक हो गया है। उसे पहले राजसिक बनाना होगा। यदि वह राजसिक हो जाता है तो फिर फ्राँस या रूस की तरह क्रांति होगी। खर्च की विषमता के भयानक परिणाम हो सकते हैं। आपने अंबानी का उल्लेख किया। सरकार किन को आदर देती है? जमशेद जी को या धीरूभाई को दो अलग-अलग रास्ते हैं।

विश्व में सबसे संपन्न देश नार्वे-स्वीडन-डेनमार्क हैं। वहाँ कर चोरी नगण्य है, अमेरिका बारहवें नंबर पर आता है। 48 देशों में भारत 45 नंबर पर आता है। पत्र लंबा हो गया है। पर आपसे अपेक्षाएँ लेकर यह पत्र लिखा है कि कुछ आप करेंगे।

समाज और शासन

'मंगल सृष्टि' द्वारा आयोजित की जाने वाली गोष्ठियों के क्रम में 5 मार्च, 2017 को समाज और शासन विषयक गोष्ठी में प्रसिद्ध चिंतक और लेखक आनंद आदीश जी ने हमारा मार्गदर्शन किया। उन्होंने कहा – विषय के साथ न्याय करने के लिए सबसे पहले हम इस पर विचार करें कि समाज क्या है और शासन क्या है? ये कहाँ से आए? इतिहास बताता है कि जैसा समाज आज है वैसा समाज सदैव नहीं था और जैसा शासनतंत्र है वैसा सदैव से नहीं था, परंतु समाज और शासन की संकल्पना, विशेष रूप से भारत के संदर्भ में बिल्कुल स्पष्ट थी। समाज का विकास जैविक विकास की प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम दिखाई देता है। हमारे शास्त्रों में भी इसकी ओर दशावतारों की कथा के रूप में संकेत मिले हैं, जो मत्स्य अवतार, कच्छप अवतार, वाराह अवतार आदि प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं। लाखों-करोड़ों ही नहीं अरबों वर्षों की इस विकास यात्रा की कहानी किसी भी तिल्समी उपन्यास से अधिक रोचक एवं रोमांचक है, जिसका आनंद लेने एवं ज्ञानार्जन के लिए हमें उद्भट इजराइली विद्वान युवाल नोहा हरारि समान अनेक विद्वानों द्वारा मानव जाति का इतिहास (History of Humankind) संबंधित अनेक खोजपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन करने का कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा।

कैसे सूक्ष्मतम जीवाश्म, दीर्घ एवं जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए अगणित जीवमान् जातियों-प्रजातियों में विकसित और विभाजित होकर हमारी इस धरा पर विचरण करने लगे, इसका उत्तर पाने के लिए पदार्थ (Matter),ऊर्जा (Energy), दिक् (Space) और काल (Time) के क्षेत्र में भौतिक शास्त्रियों; परमाणु (Atom) और अणु (Molecules) के क्षेत्र में रसायनशस्त्रियों; जैविकी के क्षेत्र में जीवशास्त्रियों तथा भौगोलिकी के क्षेत्र में भूवैज्ञानिकों के अनथक श्रम, साधना और बुद्धि प्रदत्त अनगिन अंवेष्णों, खोजों और सिद्धांतों ने हमें जो निष्कर्ष दिए हैं उनका लेखा-जोखा इतिहास का विषय है। मनुष्य भी उन्हीं जीवमान इकाइयों में से एक ऐसा प्राणी है जो विकास के क्रम में चार पैरों पर चलते-चलते दो पैरों पर चलने लगा, जिसकी परिणति अंततोगत्वा सामाजिक इकाई के रूप में हुई, जिसने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक संस्थाओं को जन्म दिया, जिनमें से शासन अथवा सत्ता एक है। उसकी इस यात्रा को अहं से वयं की यात्रा कहा जा सकता है।

परंतु इस विकास क्रम के मात्र भौतिक कारण ही नहीं; आत्मिक, परमात्मिक कारण भी अवश्य रहे होंगे। आखिर क्या कारण है कि एक माँ स्वयं गीले में लेट कर भी अपने शिशु को सूखे में सुलाती है, गाय अथवा बिल्ली अपने नवजात असहाय शावकों की रक्षा के लिए सिंहनी बन जाती है, हाथियों के झुंड अपने किसी एक साथी को ट्रक की टक्कर लग जाने पर कोहराम मचाने तथा राजमार्ग को कई-कई दिन तक अवरुद्ध करने पर उतारू हो जाते हैं। जीव-सृष्टि की

विकासावस्था में कितनी भी असमानता क्यों न हो-- जैसे अन्यान्य जीवधारियों की अपेक्षा मनुष्य का मस्तिष्क अधिक विकसित हुआ है- दुःख-सुख, भीति- प्रीति, जन्म-मृत्यु, मोह-ममता, संतानोत्पत्ति आदि की अनुभूति तो सभी में समान होती हैं। भारतीय ऋषियों-मुनियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार यह समानता आत्म-तत्त्व की समानता के कारण है । वे इस गहन ज्ञान का अन्वेषण आधुनिक विज्ञान तथा उपकरणों की सहायता से नहीं, अपितु गहन ध्यान साधना एवं योग-मार्ग से समाधि अवस्था में पहुंच पाने के कारण कर पाए। इसी समान आत्म-तत्त्व के सत्य को अंगीकार करने के कारण हम भारतीय-जन चींटियों को दाना परोसते हैं, गऊ मैया को अवध्य और पूज्य मानते हैं तथा श्वान का धर्मराज युधिष्ठिर के साथ स्वर्ग जाने का ही स्वागत् नहीं करते, साक्षात धर्म मानते हैं । डॉ.जगदीश चंद्र बसु वृक्षों, पत्थरों में भी जीवन की आहट सिद्ध कर, हम भारतीयों द्वारा बड़, पीपल, तुलसी, गंगा आदि की पूजा प्रथा की वैज्ञानिकता दुनिया द्वारा स्वीकार करवाने में सफल होते हैं। संक्षेप में कहना पड़ेगा कि कुछ तो ऐसा है जो सारी वैज्ञानिक खोजों के बाद भी अखोजा रह जाता है, जिसे आइंस्टीन समान महान वैज्ञानिक भी अज्ञेय (Uncertainty principle के रूप में स्वीकार करने को बाध्य होते हैं।

जितना-जितना आगे बढ़ते जाते हैं उतना ही दूर क्षितिज के परे कोई अबूझ अनावरण करने के लिए आमंत्रित करता रहता है। ऐसी स्थिति में अध्यात्म के शब्द कोष में उपलब्ध आत्म तत्त्व ही हमारा तारणहार बन कर प्रगट होता है और वही मरणोपरांत परमात्म में विलीन हो जाता है, यही उसका अमृत्व है। यह तत्त्व व्यष्टि में विद्यमान है और समष्टि में भी। इसी को हमारे ऋषि-मुनियों ने, पं. दीनदयाल उपाध्याय सहित विचारकों ने 'चिति' का नाम दिया है, जिसकी सामूहिक, सांघिक अभिव्यक्ति 'विराट' के विशेषण से विभूषित होती है। यहीं पर यह भी रेखांकित करना समीचीन होगा कि भारतीय मनीषा की दृष्टि में यह विकास प्रक्रिया चक्रीय है, अर्थात् विकास के बाद विनाश और फिर विकास का क्रम सृष्टि में अनवरत चलता रहता है। वास्तव में यहीं से धीरे-धीरे समाज का विकास हुआ-- पिता, फिर भाई-बहन, फिर बच्चे आ जाते हैं, परिवार बन जाता है, फिर समाज बन जाता है। समाज के विकास की प्रक्रिया में पारस्परिक निर्भरता, सहयोग, सहानुभूति, सहवास, संकट और आपदा में एकात्म का भाव पैदा हुआ। इस प्रकार समाज का अभ्युदय एक प्राकृतिक प्रक्रिया से हुआ है। अर्थात समाज का अभ्युदय प्रकृति के कारण हुआ है, परंतु सत्ता का अभ्युदय प्रकृति से नहीं हुआ, ईश्वर ने सत्ता पैदा नहीं की। हालांकि हमारे शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने सृष्टि का निर्माण किया और ब्रह्मा जी ने ही समाज के उद्दंड तत्त्वों को नियंत्रित करने के लिए शासन को अपना पुत्र दंड प्रदान किया। अर्थात् समाज ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिस संस्था को जन्म दिया उसे सत्ता कहा। इस प्रकार समाज जननी है और

भारतीय दार्शनिकों ने सत्ता का चिंतन उतना नहीं किया है जितना समाज का किया है। इसके विपरीत पश्चिम ने सत्ता का चिंतन ज्यादा किया है समाज का कम। पश्चिम में सत्ता समाज पर, राष्ट्र पर हावी है, उसका नियंता है, उसका चालक है। यह इसी का परिणाम है कि जितने निरंकुश शासक पश्चिम में हुए हैं, भारत में नहीं हुए।

सत्ता जातक है। समाज प्रकृति है और शासन कृति है। समाज द्वारा बनाया गया शासन तंत्र इकलौता नहीं है क्योंकि समाज ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर कई अन्य संस्थाएं भी निर्माण की हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने सत्ता का चिंतन उतना नहीं किया है जितना समाज का किया है। इसके विपरीत पश्चिम ने सत्ता का चिंतन ज्यादा किया है समाज का कम। पश्चिम में सत्ता समाज पर, राष्ट्र पर हावी है, उसकी नियंता है, उसकी चालक है। इसीलिए पश्चिम में अपने महान् चिंतक सुकरात को जहर पिला दिया गया। यह जहर किसी व्यक्ति को नहीं वरन् समाज को पिलाया गया। जहाँ शासन या सत्ता को प्रमुख और समाज को गौण समझा जाता है उसका प्रभाव वहाँ के चिंतन और मनन पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

राज्य की उत्पति के संबंध में मुख्यतः चार सिद्धांत सामने आते हैं--

1-विकासवादी (Evolutionary)

2- शक्तिवादी (might is right)।

3- दैवीय (Divine right) ।

4- सामाजिक सहजानुमति (Social contract)।

पश्चिमी विचारक सत्ता को प्रमुख मानकर चलते हैं, जिसके कारण समाज स्वतः गौण स्थिति में आ जाता है। अरस्तु मनुष्य को राजनीतिक प्राणी मानता है, दासों को हेय समझता है, गुण विहीन मानता है और शासक को सर्वोच्च सेनापति। जिसका स्वाभाविक परिणाम निरंकुश सत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ हो नहीं सकता। जिसके उदाहरण वहाँ के इतिहास में प्रचूर मात्रा में मिलते हैं।

भारतीय चिंतन इसके बिल्कुल विपरीत है। भारत में जब राजा यह कहता है कि 'अदंड्योऽस्मि', तब ऋषि हाथ में पलाश की टहनी लेकर उसे राजा के शीश पर तीन बार छुआ कर हर बार घोषणा करता था कि 'धर्म दंड्योत्मऽसि' अर्थात् स्वयं को जो राजा अदंडनीय बता रहा है, उसे भी दंडित करने का अधिकार धर्म को है। जो भारतीय परंपरा के अनुसार सदाचरण की संहिता का दूसरा नाम है। भारत में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में समाज का चिंतन गहराई से किया गया है। मनु से ही ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक गया। हमारे यहाँ राज्य का भी चिंतन हुआ है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में राज्य का चिंतन है। शुक्र नीति भी राज्य का चिंतन करती है, परंतु आज भी हमारे समाज जीवन में मनुस्मृति और उपनिषदों का जो स्थान है वह चाणक्य के अर्थशास्त्र का नहीं है। वास्तव में समाज जीवन में जैसा चिंतन-मनन होता है उसका वैसा ही परिणाम होता है। भारत में समाज पर सत्ता हावी नहीं रही है। पश्चिम दार्शनिक जितना सत्ता को केंद्र में रखकर विचार करता चला गया, उतना ही वहाँ का समाज गिरता चला गया। चाहे हम भूतकाल में देख लें या वर्तमान में।

स्वतंत्र भारतवर्ष में एक छोटी सी कोशिश 1975 में तानाशाही स्थापित करने की हुई, लेकिन समाज ने 19 माह में ही उसे उखाड़ कर फेंक दिया। निरंकुश शासकों को हटाने के लिए वर्षों तक, कई बार शताब्दियों तक संघर्ष चला।

भारत में समाज ने शासन को तीन बातों की जिम्मेदारी दी है--

1- विदेशी आक्रमण से सुरक्षा

2-समाजिक अनुशासनहीनता का नियमन

3-सामाजिक सुख और सौहार्द का संवर्धन

इनके समुचित निर्वहन के लिए शासन कुछ कर वसूल सकता था।

शासन चलाने वाला जो तंत्र, जिसको सभा कहा जाता था और उसके सदस्यों को सभासद, उसमें 39 सभासद उस वर्ग से होते थे जिसको आज हम दलित वर्ग कहते हैं, 21 सदस्य उस वर्ग से होते थे जिन्हें आज हम अन्य पिछड़ा वर्ग कहते हैं, 8 सदस्य वैश्य वर्ण से और मात्र

चार सदस्य ब्राह्मण वर्ण से होते थे। स्वाभाविक रूप से निर्णायक मत राजा का होता था, जिसका उपयोग वह केवल समाज के अंतिम हित में ही करता था। ऐसी व्यवस्था क्यों हुई? वास्तव में समाज में यदि सामाजिक समरसता है तथा राजा उदार और समदर्शी है तभी सामाजिक ढ़ाँचा सुव्यवस्थित रह सकता है। अतः इसी कारण शासन में पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करने का प्रावधान रहता था।

शासन सामाजिक संस्थाओं की सहायता करता था परंतु हस्तक्षेप नहीं। उदाहरण के लिए आज भी विश्व यह नहीं समझ पा रहा है कि आखिर नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला जैसे विशाल और महान विश्वविद्यालय किस की सहायता से, बिना किसी शासकीय हस्तक्षेप के, शताब्दियों तक सुचारू रूप से चलते रहे। शासन के समाजोन्मुखी होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि ऋषिकुलों की रक्षार्थ राजा दशरथ को अपने दोनों लाडले पुत्र-राम और लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्र के साथ भेजने पड़े। ऐसे ही समाज को पंडित दीनदयाल उपाध्याय एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं, केवल व्यक्तियों के समूह के रूप में नहीं। ऐसे ही समाज का उन्होंने एक जीवमान इकाई के रूप में उसका दर्शन किया और उसे 'एकजन' कहा। जिसकी अपनी एक स्वतंत्र चिति होती है। समाज की अपनी एक चेतना होती है, कोई चैतन्य होता है। जब कोई समाज का एक जन के रूप में किसी एक निश्चित भूखंड में पुत्र रूप में वास करता है तो वह एक समाज बनता है–राष्ट्र बनता है। राज्य उसका एक उपकरण मात्र है, नियामक नहीं। जब राज्य अपने राष्ट्र की चिति पर चोट करता है, वह उसकी आत्मा पर चोट करता है, तब उसमें शक्ति का जो प्रस्फोटन होता है वह समाज का विराट् रूप है।

जो समाज पुत्र रूप में रहता है वही समाज का विराट् रूप है। विराट् समाज का प्राण है। समाज का जो उपेक्षित, दलित और पिछड़ा-दीनहीन वर्ग है, शासन को कभी भी उस पक्ष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

इसी कारण से पंडित दीनदयाल जी ने जन चिति को उसकी आत्मा बताया है। वहीं विराट को समाज का प्राण बताया है।

समाज और शासन अन्योन्याश्रित नहीं हैं। समाज शासन पर आश्रित नहीं होना चाहिए। जब समाज की शासन पर निर्भरता हो जाती है तो वह पंगू हो जाता है और सशक्त जीवमान समाज का क्षय होता है। हमारा आज का समाज अपनी बहुत सी आवश्यकताओं के लिए शासन पर निर्भर होगया है, अतः हमारा आज का संकट हमारे पंगु होने का है। इसी विचार को पंडित दीनदयाल जी ने पहले दिन से स्पष्ट रूप से कहा की सत्ता हमारी चेरी है, हम सत्ता के दास नहीं हैं।

वे कहते थे कि राजनीति एक बहुत छोटा सा पक्ष है। जब राजनीतिक क्षेत्र में संघ के कुछ कार्यकर्ता गए तब भारतीय जनसंघ का निर्माण किया। उस समय संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरु जी गोलवलकर ने उन कार्यकर्ताओं को यह उदाहरण देकर आगाह किया था कि जैसे छोटा बच्चा होली के दिनों में गाजर को घिसकर उसकी पीपनी बना लेता है, वैसे ही हमारे लिए राजनीति होनी चाहिए, जब तक वह समाज की हितकारी बने रह कर आनन्द दे तब तक उसका आनंद लेते रहो, समाज घातक होते ही उसे ठीक वैसे ही विदा करदो जैसे बच्चा आवाज देना बंद कर देने वाली गाजर को करता है।

ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व प्लेटो ने दार्शनिक राजा (Philosphier King) की कल्पना की थी, जो मात्र कल्पना ही बन कर रह गई। शायद ही वहाँ कोई दार्शनिक सम्राट पैदा हुआ, जबकि भारत में तो ऋषभ देव, जनक आदि दार्शनिक सम्राटों की लंबी शृंखला

हुई है। इतना ही नहीं जिसे शासन विहीन (Withering of the state) की बात मार्क्सवादी ताकत के भरोसे प्राप्त करने की बात करते हैं वह हमारे देश में सत्य युग में सामाजिक सर्वानुमति के माध्यम से विद्यमान थी, जिसे महाभारत के शांति पर्व 59-14 में निम्नलिखित शब्दों अभिव्यक्ति मिली है-

न वै राज्यं, न राजाऽऽसीन्न च दण्ड्यो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

न तो राज्य था, न राजा। न दंडनीय अपराधी न दंड। धर्म के द्वारा ही संपूर्ण प्रजा एक-दूसरे की रक्षा करती थी। इसीलिए भारतीय अवधारणा में सत्ता धर्म की है, व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूह की नहीं। इसी से समाज का सुख, सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित होती है। यही किसी भी जाग्रत समाज की आकांक्षा हो सकती है और लोक कल्याणकारी राज्य का हेतु भी।

श्री मुन्ना लाल जैन ने कहा कि समाज और शासन का चोली दामन का साथ है, इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। सरकार समाज की आवश्यकता के अनुसार बनती है। राष्ट्र और देश के हित को ध्यान में रखते हुए समाज को एकरूप, समरूप और एकाकार कैसे किया जाए इस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। श्री विनोद बब्बर ने कहा कि शासन का अर्थ सत्ता मान लिया गया है, जबकि ऐसा नहीं है। समाज एक आवश्यक इकाई है। समाज में आत्मानुशासन होना आवश्यक है, शासन नहीं होना चाहिए। शासन विहीन और शासनमुक्त समाज हो। आत्मानुशासन युक्त व नैतिक मूल्यों से जुड़ा हुआ समाज ही हितकारी है। हमारा शासन डराने वाला नहीं हो और समाज की समस्याओं का समाधान समाज के स्तर पर ही होना जरूरी है। प्रो.राजवीर शर्मा ने कहा कि आज समाज में जो टूटन आई है उसे रोकने की आवश्यकता है। अगर इस टूटन को नहीं रोका तो शासन का हस्तक्षेप बढ़ेगा, जो समाज के हित में नहीं है। चिंता की बात है कि आज पश्चिम की जो व्यवस्था समाज पर थोपी गई है उससे हमारी आत्मनिर्भरता समाप्त हुई है। राज्य पुरुषार्थ की भावना को मारने का काम कर रहा है और राज्य अपनी भूमिका को पुनर्परिभाषित कर रहा है, जिससे उसका समाज पर नियंत्रण बढ़ जाएगा, इस खतरे के प्रति सचेत रहने और इसका मुकाबला करने की आवश्यकता है। श्री नेम चंद जैन ने कहा कि वर्ण व्यवस्था हमारे समाज की विशेषता है। यह व्यवस्था जाति व्यवस्था में कैसे और कब बदल गई पता ही नहीं चला। इस पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है।

'मंगल विमर्श' के प्रधान संपादक श्री ओमीश परुथी ने अपने अध्यक्षीय संबोधन में कहा कि समाज और शासन की अवधारणा युगानुरूप बदलती रही है। कभी शासक समाजोन्मुखी व प्रजाहितकारी होता है, यथा-राजा राम, राजा जनक अथवा हर्षवर्धन; और कभी वह समाज विमुख, अहंकारी व अत्याचारी होता है जैसे सद्दाम अथवा स्टालिन। कुछ विचारक शासक को ही त्याज्य मानते हैं। उनका मत है कि जब भी समाज शासित होगा, वह किसी न किसी दबाव में अवश्य रहेगा। महाकवि दिनकर ने भी अपने प्रबंध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग में शासक विहीन समाजको आदर्श व निरापद माना है, जहां प्रजा स्वयं स्वानुशासित, स्वदेशानुरागी व परस्पर-हितकारी होकर राष्ट्र चला सकती है।

स्नेहाकांक्षी
आदर्श गुप्ता
प्रबंध संपादक

सहयोगी वृंद

1. श्री अभिषेक गुप्ता
एस.एल.एम मेंशन,
रिठाला इंडस्ट्रीयल एरिया,
नजदीक -भारतीय स्टेट बैंक ,
दिल्ली - 110085

2. श्री आशीष चौधरी
665, सैक्टर-14ए, वसुंधरा,
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश -201012

3. डॉ. हेमेंद्र कुमार राजपूत
4सी/ 137, वार्ता लोक अपार्टमेंट, वसुंधरा,
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201012

4. चौधरी रवींद्र सिंह
बी-5, गीता नगरी, बिजनौर,
उत्तर प्रदेश-246701

5. सेठ राम निवास गुप्त
133, दीपाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

6. श्री आलोक कुमार गुप्ता
ए-601, वर्धमान अपार्टमेंट, मयूर विहार,
फेस-1, दिल्ली-110091

7.श्री राजबीर सोलंकी
ए-55, सेक्टर-19, द्वारका, नई दिल्ली-110075

8. श्री ताराचंद गोयल
गोयल वेगोलिस लि., कसर, एन.एच. 12, कोटा,
राजस्थान-325003

9. डॉ. जे. ए. सिद्दकी
राजा महेंद्रा प्रताप लाईब्रेरी, चौधरी चरण सिंह
विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश -250005

10. श्री अशोक डबास
ए-3/344, चतुर्थ तल, पश्चिम विहार,
नई दिल्ली-110063

11. श्री गिरीश चंद महेश्वरी
62, महेश्वरी अपार्टमेंट, प्लाट नं. 06, सेक्टर-14,
रोहिणी, नई दिल्ली-110085

12. श्री सुरेश चंद मित्तल
डी-4, पुष्पांजलि, परवाना रोड़, पीतमपुरा,
दिल्ली - 110034

13. प्रो. नेम कुमार जैन
37ए, गुरु नानक मार्ग, केवल पार्क एक्स.,
आजादपुर, दिल्ली-110033

मंगल विमर्श
सदस्यता -प्रपत्र

मंगल विमर्श त्रैमासिक पत्रिका

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

सदस्यता -शुल्क

10 वर्षों के लिए
₹2000 मात्र

मंगल विमर्श की..... वर्षों की सदस्यता हेतु.....

रुपये का ड्राफ्ट/चैक क्रं. ..... दिनांक.....

बैंक..... भेज रहे हैं,

कृपया..... वार्षिक सदस्य बनाने का कष्ट करें।

नाम.....

पता.....

.....

..... पिनकोड .....

फोन :..... मोबाइल:.....

इ-मेल.....

पत्रिका सदस्यता शुल्क हेतु
मंगल सृष्टि (Mangal Srushti)
के नाम चैक/ड्राफ्ट सी-84, अहिंसा विहार,
सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 पर भेजें।
फोन नं. +91-9811166215,
+91-11-27565018

इ-मेल mangalvimarsh@gmail.com **वेब साइट** www.mangalvimarsh.in